'इन्दु' स्मृति-माला का चतुर्थ पुष्प.

# भक्ति और वेदान्त

( विवेकानन्द ग्रन्थावली संख्या १ )


लेखक—

स्वामी विवेकानन्द

अनुवाक—

श्री रामविलास शर्मा, बी० ए० (ऑनर्स)



प्रकाशक—

सरस्वती पुस्तक भण्डार

श्रीराम रोड, लखनऊ.

प्रथमावृत्ति २००० } अक्टूबर सन् १९३३ { मूल्य ॥=)

प्रकाशक—
रामस्वरूप गुप्त, संचालक—
सरस्वती पुस्तक भंडार,
श्रीराम रोड-लखनऊ.



मुद्रक—
पं० मन्नालाल तिवारी,
हरीकृष्ण कार्यालय शुक्ला प्रिंटिंग प्रेस,
६६ लाटूश रोड-लखनऊ.

# दो शब्द

"भक्ति और वेदान्त" स्वामी विवेकानन्द के भिन्न-भिन्न स्थानों में दिए हुए चार व्याख्यानों का अनुवाद है। पश्चिम में हमारे धर्म के वे सर्व-प्रथम और सर्व-श्रेष्ठ प्रचारक थे। विलासिता और भौतिकवाद के मद में चूर पाश्चात्य देशों को उन्होंने दिखाया कि सांसारिक सुख से भी बढ़कर एक सुन्दर जीवन है, जो मरने के बाद किसी अन्य लोक में नहीं वरन् इसी संसार में सुलभ है। मनुष्य इसी जीवन में सत्य ज्ञान (वेदान्त) अथवा सत्य-प्रेम (भक्ति) द्वारा आत्मा और परमात्मा की तन्मयता का अनुभव कर अमरता को पा सकता है। सभी धर्मों का यही ध्येय है और इसी लिए उनमें बाह्य विभिन्नता होने पर भी एक आन्तरिक समानता है। धर्म के रहस्य को स्वामीजी ने भलीभाँति समझाया है।

कुछ दिनों से नवशिक्षित लोगों ने पश्चिम की देखा-देखी अपनी पुरानी रूढ़ियों पर आक्रमण करना तो सीख लिया है; पर सामने कोई निश्चित आदर्श नहीं रक्खा। कहना न होगा कि आज यूरोप और अमेरिका से कहीं अधिक भारतवर्ष में ही स्वामीजी के विचारों के प्रचार होने की आवश्यकता है। भारतीय आदर्श का क्या महत्व है तथा उसके लिए हमें क्यों अभिमान होना चाहिए, पाठक इस पुस्तक को पढ़कर भली-भाँति समझ सकेंगे।

विनीत—

रामस्वरूप गुप्त

# सूची-पत्र

# भक्ति और वेदान्त

## मेरे पथ-प्रदर्शक

[ स्वामी विवेकानन्द ने यह व्याख्यान न्यूयार्क में वेदान्त-सोसाइटी के सम्मुख दिया था. ]

भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥"

( जब संसार से पुण्य उठ जाता है और पाप की बढ़ती होती है, तब मनुष्य-जाति का उद्धार करने के लिए मैं अवतार लेता हूँ। )

बहु-संख्या अथवा अन्य परिस्थितियों के कारण जब संसार में परिवर्तन की आवश्यकता होती है, तभी एक नवीन शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। मनुष्य के दो कार्य-क्षेत्र हैं—एक पार्थिव, दूसरा आत्मिक; परिवर्तन दोनों ही क्षेत्रों में होता है। आधुनिक समय में तो यूरोप ही पार्थिव क्रियाओं की रंगभूमि है; पर प्राचीनतम काल से समस्त संसार में आत्मिक

उन्नति का प्रधान केन्द्र भारतवर्ष ही रहा है। आज भी आत्मिक क्षेत्र में परिवर्तन की आवश्यकता है। भौतिकता अपनी शक्ति तथा प्रसिद्धि के उच्चतम शिखर पर विराज रही है। संभव है कि मनुष्य अपनी स्वर्गीय प्रकृति को भूलकर सांसारिक वस्तुओं पर अधिकाधिक निर्भर होता हुआ पैसा पैदा करने की मशीन-मात्र रह जावे; इसीलिए परिवर्तन की नितान्त आवश्यकता है। भौतिकवाद् की घिरती हुई घटाओं का ध्वंस करने के लिए नव-शक्ति का जन्म हो चुका है, रण-भेरी बज चुकी है, यह शक्ति मनुष्य-मात्र को उनकी विस्मृत स्वर्गीयता का पुनः स्मरण करावेगी और एक बार फिर इस शक्ति का जन्म-स्थान एशिया ही होगा। मनुष्यों के कार्य बटे हुए हैं। एक ही मनुष्य सभी कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता; फिर भी हम कितने निर्बुद्धि हैं। सरल बचा समझता है कि संसार में यदि किसी वस्तु को आकांक्षा की जा सकती है, तो वह उसको खेलने की गुड़िया है। इसी भाँति एक जाति, जिसने भौतिक शक्ति प्राप्त की है, समझती है कि उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया, उन्नति के शिखर पर पहुँच गई, सभ्यता की चरम सीमा को पार कर लिया! अन्य जातियों का, जिन्होंने पार्थिव उन्नति नहीं की, जीना व्यर्थ है। उन्हें जीने का अधिकार नहीं, साथ ही एक जाति भौतिक उन्नति को बिल्कुल ही निरर्थक भी समझ सकती है। प्राच्य ने गम्भीर वाणी से पुकार कर कहा था कि यदि आसमुद्र पृथ्वी आकाश की वस्तुओं का भी कोई जन स्वामी है; पर आत्मिक उन्नति से हीन है, तो

वह भिखारी से भी दीन है। यह प्राच्य विचार है, इसके विरुद्ध पाश्चात्य।

दोनों विचारों की अपनी-अपनी शोभा, अपना-अपना सम्मान है। आज इन्हीं दोनों आदर्शों के सहानुभूतिमय पारस्परिक सम्मिलन की आवश्यकता है। प्राच्य के लिए आत्मिक संसार उतनाही सत्य है, जितना कि पाश्चात्य के लिए भौतिक। आशा आकांक्षा के लिए सारी वस्तुएँ उसके लिए वहीं विद्यमान हैं। जीवन को चरितार्थ करने के लिए सब कुछ वहीं है। पाश्चात्य के लिए वह केवल स्वप्न देखता है, उसी भाँति उसके लिये भी पाश्चात्य केवल माया-स्वप्न देखता है। यह देखकर उसे हँसी आती है, कि स्वस्थ मस्तिष्क वाले स्त्री-पुरुष मुट्ठी भर मिट्टी को इतना महत्व देते हैं, जिसे उन्हें आज या कल छोड़ना ही पड़ेगा। एक दूसरे को स्वप्न देखनेवाला बताता है; पर मनुष्य-जाति की उन्नति के लिए प्राच्य आदर्श उतना ही आवश्यक है, जितना कि पाश्चात्य, और जैसा कि मैं समझता हूँ, उससे भी अधिक मशीनों ने मनुष्य-जाति को कभी सुखी नहीं बनाया, न बनावेंगी। जो इसके विरुद्ध हमें विश्वास दिलाता है, वह यही कहता है, कि सुख मशीन में है, न कि मनुष्य के हृदय में। वही पुरुष, जो अपने हृदय और मस्तिष्क का स्वामी है, केवल वही सुखी हो सकता है; अन्य नहीं और फिर मशीनों की शक्ति ही क्या है? एक पुरुष जो एक तार में से बिजली की धारा भेज सकता है, बड़ा मनस्वी और प्रतिभाशाली क्यों कहा जाता है? क्या प्रकृति प्रति क्षण

उससे सहस्रों बार अधिक अद्भुत कार्य नहीं करती, तब प्रकृति के चरणों में गिरकर उसकी पूजा क्यों नहीं करते हो? समस्त संसार पर तुमने अधिकार कर लिया, तो क्या हुआ? सृष्टि के अणुमात्र को अपने वश में कर के भी तुम सुखी नहीं हो सकते। यदि सुखी होने की शक्ति स्वयं तुम्हारे भीतर नहीं है, यदि तुमने अपने आपको नहीं जीता। यह सच है कि मनुष्य प्रकृति को जीतने के लिए ही उत्पन्न हुआ है, पर पाश्चात्यों का प्रकृति से तात्पर्य केवल बाहरी भौतिक प्रकृति से ही होता है। निस्सन्देह भौतिक प्रकृति सुन्दर है। उसके पर्वत, नदियाँ, समुद्र—सभी सुन्दर हैं; उसके रूप और शक्तियाँ अनन्त हैं। फिर भी मनुष्य की एक आन्तरिक प्रकृति है, जो सूर्य, चन्द्र और तारागणों से भी ऊँची, भौतिक प्रकृति और संसार से ऊँची, हमारे क्षणभंगुर जीवन बुद्‌बुदों से तो कहीं अधिक ऊँची है। इस प्रकृति की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। इस क्षेत्र में प्राच्य सदा बढ़े रहे हैं जैसे कि पाश्चात्य दूसरे में। अतएव यह योग्य ही है कि जब आत्मिक क्षेत्र में कोई परिवर्तन हो, तो उसका श्रीगणेश प्राच्य में ही हो। साथ ही प्राच्य भी जब मशीन बनाना सीखना चाहे, तो उसे पाश्चात्य के चरणों का आश्रय ले सीखना चाहिए। और जब पाश्चात्य जीव, आत्मा, परमात्मा व इस सृष्टि के रहस्य को समझना चाहे, तो उसे प्राच्य की दीक्षा लेनी चाहिए।

मैं आप लोगों के सम्मुख एक ऐसे पुरुष की जीवनी वर्णन करने जा रहा हूँ, जिसने भारतवर्ष में ऐसे ही आन्दोलन को जन्म

दिया था। पर इसके पहिले मैं यह समझाने की चेष्टा करूँगा कि भारतवर्ष है क्या ? उसका रहस्य क्या है ? जिनकी आँखों में भौतिक वस्तुओं की चमक-दमक ने चकाचौंध उत्पन्न कर दी है, जिन्होंने 'खाओ, पियो, मौज करो' के आदर्श की वेदी पर अपने जीवन को अर्पित कर दिया है, धन और भूमि ही जिन्हें सबसे अधिक अभीप्स्य है, इन्द्रिय-सुख ही जिनके लिए वास्तविक सुख है, पैसा जिनका परमेश्वर और मृत्यु-पर्यन्त विलासमय जीवन, विताना जिनका ध्येय है, जो आगे देख नहीं सकते, विषय-वासना और सुख की वस्तुओं से घिरे हुए जो उनसे ऊँची बातें सोच नहीं सकते, ऐसे पुरुष जब भारतवर्ष में जाते हैं, तो क्या देखते हैं ? निर्धनता, दीनता, अन्ध-विश्वास, अन्धकार, सर्वव्यापी जघन्यता ! क्यों इसलिए कि ज्ञान का अर्थ उनके लिए है अच्छी पोशाक, शिक्षा, व्यावहारिक सभ्यता। पाश्चात्य जातियां ने अपनी भौतिक उन्नति करने के लिए कुछ उठा नहीं रक्खा ; पर भारतवर्ष ने वैसा नहीं किया। समूची मानवजाति के इतिहास में संसार की यदि किसी जाति ने अपनी सीमाओं को लाँघकर अन्य जातियों को जीतने की इच्छा नहीं की, तो वह हमारी हिन्दू जाति ही है ! भारतवासियों ने पराया धन पाने की चेष्टा कभी नहीं की। उनका दोष केवल इतना था कि उनकी भूमि बहुत उपजाऊ थी, उनकी बुद्धि बहुत प्रखर थी, जिससे कि उन्होंने अपने हाथों की गाढ़ी कमाई से अगाध धन-सम्पत्ति इकट्ठी की, जिसे देखकर अन्य

जातियाँ लुभाती रहीं और आकर उसे हर ले गई। धन देकर और बर्बर कहाकर भी उन्हें सन्तोष है, बदले में वे संसार को सर्वश्रेष्ठ और सर्वव्यापी परमात्मा के सौन्दर्य को दिखाना चाहते हैं। जिस पर्दे के पीछे वास्तविक मनुष्य छिपा हुआ है, उसे वे तहस-नहस कर डालना चाहते हैं; क्योंकि वे इस स्वप्न का अर्थ समझ गये हैं और जानते हैं कि इस भौतिकवाद के पीछे मनुष्य की वह अमर स्वर्गीय प्रकृति रहती है, जिसे कोई पाप, दुष्कर्म व वासना दूषित अथवा कलुषित नहीं कर सकती, जिसे अग्नि जला नहीं सकती, पानी भिगो नहीं सकता, गर्मी सुखा नहीं सकती, मृत्यु भी जिसे मार नहीं सकती। उनके लिए मनुष्य की यह वास्तविक प्रकृति उतनी ही सत्य है, जितना कि किसी पाश्चात्य के लिए कोई भौतिक पदार्थ। जिस प्रकार तुम 'हुर्रे' की ध्वनि करते हुए तोप के मुँह में कूद सकते हो, स्वदेश के लिये वीरतापूर्वक अपना जीवन दे सकते हो, उसी प्रकार वे अपने ईश्वर के नाम पर वीरता के कार्य कर सकते हैं। इसी वीरता पर एक मनुष्य जो कहता है कि संसार विचारमात्र है, मिथ्या स्वप्न है, यह दिखाने के लिये कि जिस बात पर उसे विश्वास है, सत्य है, अपने कपड़े-लत्ते, धन-दौलत, सब त्याग देता है, इसी वीरता पर एक पुरुष जीवन को अमर जान नदी के किनारे शरीर को किसी क्षुद्र वस्तु की भाँति त्याग देना चाहता है, वैसे ही जैसे तुम किसी तृण का त्याग कर सकते हो। अपनी वीरता के कारण वे मृत्यु का एक सहोदर के समान सामना कर सकते

हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि उनके लिये कोई मृत्यु नहीं है। इसी वीरता ने उन्हें शताब्दियों के विदेशी आक्रमणों और निर्द्वन्द्व अत्याचारों के सम्मुख अजेय रक्खा है। यह जाति आज भी जीवित है और उस जाति में इस जघन्य दुर्दशा और विपत्ति के दिनों में भी आत्मिक उन्नति के प्रबल महारथी उत्पन्न हुए हैं। जैसे कि पाश्चात्य ने विज्ञान व राजनीति में उद्भट विद्वान् उत्पन्न किये हैं, वैसेही एशिया ने आत्मिक क्षेत्र में महान् पथ-प्रदर्शकों को जन्म दिया है। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में जब भारतीय विचार-धारा पर पाश्चात्य आदर्शों ने स्वाधिकार जमा लिया, यद्यपि विजेता वीर हाथ में सिरोही लिये ऋषियों की सन्तानों से कहने लगे कि तुम लोग बर्बर हो, अभी तक केवल स्वप्न देखते रहे हो, तुम्हारा धर्म दन्तकथाएँ मात्र हैं, आत्मा, परमात्मा आदि जो कुछ भी पाने की तुम सदियों से अभिलाषा कर रहे हो वह अर्थहीन शब्द भर हैं, तुम्हारे आत्मिक युद्ध के सहस्रों वर्ष, अपूर्व त्याग की अनन्त शताब्दियाँ सब व्यर्थ ही गईं, तब विद्यालयों के नवयुवकों में इस प्रश्न को लेकर खूब वाद-विवाद हुआ कि आज तक का हमारा जातीय जीवन क्या योंही नष्ट हो गया! क्या वे अपनी धर्म-पुस्तकें फाड़ डालें? अपने दर्शन जला डालें? अपने उपदेशकों को मार भगावें? अपने मन्दिरों को ढहा दें और एक बार पाश्चात्य आदर्श के अनुसार अपने जातीय जीवन का फिर आरंभ करें?

पाश्चात्य विजेता ने, जो बन्दूक और तलवार लिये अपने धर्म

का प्रचार कर रहा था पुकारकर कहा, कि तुम्हारे पुराने ग्रन्थ अन्ध-विश्वास और पाषाण-पूजा भर हैं। नए स्कूलों में शिक्षा पाये हुए बच्चे, जिन्होंने बचपन से ही पाश्चात्य विचारों को ग्रहण किया था, अपने नवीन आदर्शों पर कार्य करने लगे। आश्चर्य नहीं कि चारों ओर मानसिक अशान्ति उत्पन्न हुई। पर अन्ध-विश्वास छोड़ सत्य की सच्ची खोज करने के बजाय, सत्य की कसौटी यह हुई कि 'पाश्चात्य क्या कहता है?' ब्राह्मण पण्डितों को मार भगाओ, वेदों को जला दो, क्यों? इसलिये कि पाश्चात्य ने कहा है। इस मानसिक अशान्ति ने 'सुधार' की एक नई लहर पैदा कर दी।

पर यदि तुम सच्चे सुधारक होना चाहते हो, तो तीन बातों की आवश्यकता है। पहिली यह कि तुम्हें वास्तविक सहानुभूति होनी चाहिए। अपने भाइयों के दुख से क्या तुम सचमुच ही दुखी हो? तुम सत्य ही समझते हो कि संसार में दुःख, अज्ञान और अन्ध-विश्वास भरा हुआ है? क्या इस विचार ने तुम्हारे सारे मस्तिष्क पर अधिकार कर लिया है। तुम्हारी रक्त-बिन्दुओं के संग क्या यह विचार भी तुम्हारी धमनियों में दौड़ता है? क्या तुम्हारा हृदय समवेदना से विकल हो चुका है, यदि ऐसा है, तो सीढ़ी का अभी यह पहला डंडा है। इसके अनन्तर तुम्हें सोचना चाहिए कि तुम्हारा कोई निश्चित पथ भी है या नहीं। पुराने विचार सब अन्ध-विश्वास ही क्यों न हों इन्हीं अन्ध-विश्वास की काली घटाओं

के भीतर सत्य और ज्ञान की स्वर्ण-ज्योति छिपी हुई है। क्या तुमने बादलों की कालिमा के उस पार उस पुण्य-प्रभा के दर्शन किए हैं? यदि यह सब किया है, तो यह अभी दूसरा डंडा है। अभी एक बात की और आवश्यकता है। तुम्हारा उद्देश्य क्या है? धन, वैभव अथवा प्रसिद्धि की अभिलाषा ने तो तुम्हें कार्य के लिए उत्साहित नहीं किया? क्या तुम्हें विश्वास है कि अपने आदर्श पर तुम सदा डटे रहोगे? सारा संसार तुम्हें पैरों की ठोकरें दे, तो भी तुम पीछे पग न हटाओगे? क्या तुम्हें अपना लक्ष्य साफ-साफ दिखाई देता है? कर्तव्य-कर्म के लिए अपना जीवन तक उत्सर्ग करने के लिए क्या तुम तैयार हो? जब तक जीवन रहेगा, हृदय की एक भी धमनी में रक्त बहेगा, तब तक निरन्तर अपना कार्य ही करते जाओगे? ऐसा करने पर ही तुम सच्चे उपदेशक, सुधारक, पथ-प्रदर्शक तथा विश्व के सच्चे कल्याणकारी हो सकोगे। पर मनुष्य कितना बेसबरा, कितना अदूरदर्शी होता है! विलम्ब उसे असहनीय है। भविष्य को वह देख नहीं सकता। क्यों? इसलिए कि कर्म करके कर्मफल भी वह शीघ्र ही चाहता है। उसे दूसरों से निष्काम सहानुभूति नहीं है। 'कर्म केवल कर्म के लिए' उसका आदर्श नहीं है। कृष्णजी ने कहा था—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

तुम्हारा अधिकार कर्म करने का है, कर्मफल की चिन्ता क्यों करते हो? कर्म करो, कर्मफल को अपनी फ़िकर आप करने

हो। पर मनुष्य में सहनशीलता तनिक भी नहीं है। नेता बनने का इच्छुक वह किसी भी पथ पर चल पड़ता है। संसार के सुधारक अधिकांश इसी श्रेणी के पुरुष होते हैं।

जैसा कि मैं कह चुका हूँ इस सुधार-आन्दोलन का तब जन्म हुआ था जबकि भौतिकवाद की लहरें भारतीय किनारों से टकरा रहीं थीं और ऐसा मालूम होता था कि वे हमारे सभी आर्ष सिद्धान्तों और आदर्शों को बहा ले जावेंगी। पर इस देव-भूमि के तट पर ऐसी न जाने कितनी ही लहरें टक्कर मार चुकी थीं। उनके सामने यह तो बहुत हल्की थी। शताब्दियों तक अनेक लहरों ने आकर हमारे देश को आन्दोलित किया है तथा जो कुछ उनके सामने पड़ा है, उसे नष्ट कर डाला है; इस्लाम की तलवार यहाँ चमक चुकी है और दीन और अल्लाह की ध्वनि ने भारतीय आकाश को कम्पायमान कर दिया है फिर भी यह सब तूफान शान्त हो गए हैं और हमारे जातीय आदर्श जैसे के तैसे बने रहे हैं।

हमारी भारतीय जाति का नाश हो नहीं सकता। आज भी वह अमर खड़ी है और तब तक इसी भाँति अटल और अमर खड़ी रहेगी जब तक कि भारतीय अपने आर्ष आदर्शों का त्याग न करेंगे, जब तक कि वे अपनी आत्मिकता को न छोड़ेंगे। भारतीय दीन, हीन, भिखारी होकर ही क्यों न रहें; दीनता और दारिद्र उन्हें कदाचित् सदैव के लिए ही क्यों न घेरे रहें, पर वे अपने परमात्मा को न छोड़ेंगे, वे यह कभी न भूलेंगे कि वे

ऋषियों की सन्तान हैं। जैसे कि पश्चिम में निर्धन से निर्धन जन भी अपनी उत्पत्ति किसी तेरहवीं शताब्दी के डाकू सर्दार से ढूँढ निकालने में अपना गौरव समझता है, उसी प्रकार भारतीय सिंहासन पर बैठा हुआ एक चक्रवर्ती सम्राट् भी, किसी वनचारी भिक्षुक ऋषि का, जिसने वल्कल-वस्त्र पहन, कन्द मूल-फल खाकर, परमेश्वर के अनन्त सौन्दर्य के दर्शन किए हों, अपने आपको वंशज बताकर गौरव मानता है। ऐसे ही पुरुषों से उत्पत्ति ढूँढ निकालने में हमारा गौरव है और जब तक पवित्रता इस प्रकार पूजी जायगी, भारतवर्ष अमर रहेगा।

इसी समय जब भारतवर्ष में विविध प्रकार के सुधार आन्दोलन हो रहे थे, बंगाल के एक सुदूर गाँव में २० फेब्रुअरी सन् १८३५ ई० को एक निर्धन ब्राह्मण-दम्पति के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। बालक के माता-पिता दोनों ही कट्टर ब्राह्मण थे। एक सच्चे कट्टर ब्राह्मण का जीवन वास्तव में त्याग का जीवन होता है। उसके लिए बहुत थोड़े पेशे हैं और केवल धन-दौलत उत्पन्न करने का तो वह कोई कार्य नहीं कर सकता। उसे फिर दूसरों का दान भी न लेना चाहिए। आप लोग सोच सकते हैं, उनका जीवन कितना कठोर होता होगा। आप लोगों ने ब्राह्मण जाति के विषय में अनेक बातें सुनी होंगी; पर कभी अपने हृदय में यह न सोचा होगा कि भला, ऐसी क्या बात है जिससे इस जाति ने अन्य जातियों पर इतना प्रभाव जमा रक्खा है। देश की सभी जातियों में यह जाति सबसे अधिक ग़रीब है। उनके प्रभाव का रहस्य है, उनका

त्याग। धन सम्पत्ति की वे कभी कामना नहीं करते। संसार के जितने धर्म-गुरु समुदाय हैं, भारतीय ब्राह्मण समाज उन सबसे ही अधिक निर्धन है, और इसी कारण उन सबसे अधिक शक्ति-शाली भी है। ऐसी निर्धनता में भी एक ब्राह्मण स्त्री एक ग़रीब आदमी को बिना कुछ खाने को दिये हुए गाँव से न चला जाने देगी। भारतीय माता का यह श्रेष्ठ कर्तव्य माना जाता है। माता होने से अन्त में, सबको खिलाकर उसे स्वयं खाना चाहिए। इसलिये भारतवर्ष में माता की ईश्वर के समान उपासना की जाती है। वर्तमान शिशु की माता एक आदर्श माता थी। जितनी ही ऊँची जाति होती है, उतने ही विशेष नियम उसे पालन करने पड़ते हैं। नीची जातिवाले जो चाहें खा पी सकते हैं; पर जैसे ही सामाजिक श्रेणियों में ऊपर चढ़ो, रहन-सहन और खान-पान के नियम भी वैसे ही बढ़ते जाते हैं। और ब्राह्मण जाति में पहुँचकर जो कि सबसे ऊँची जाति है और भारतवासियों की गौ रूपी धर्म-गुरु है, नियम इतने अधिक हो जाते हैं कि जीवन बहुत ही संकुचित हो जाता है। पाश्चात्य खान-पान और रहन-सहन को देखते हुए तो उनका जीवन घोर तपस्या है। पर उनमें बड़ी दृढ़ता होती है। कोई भी विचार हाथ आ जाने पर वे उसके अन्त तक ही पहुँच कर छोड़ते हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी वे उसी विचार को पकड़े रहते हैं, जब तक कि उसका सार नहीं निकाल लेते।

कट्टर हिन्दुओं का जीवन इस प्रकार बहुत ही एकान्त होता

है। उनके विचार, उनकी भावनाएँ उन्हींकी होती हैं। पुरानी पुस्तकों में उनकी जीवनचर्या प्रत्येक छोटी से छोटी बात को भी ध्यान रखकर वर्णित की गई है और उन्होंने भी प्रत्येक नियम को वज्र-हाथों से पकड़ रक्खा है। भूखे मरना उन्हें स्वीकार है पर इतर जाति के पुरुष का बनाया भोजन कदापि ग्रहण न करेंगे। पर उनमें सच्ची लगन और अपार दृढ़ता रहती है। कट्टर हिन्दुओं का जीवन प्रगाढ़ विश्वास और अनुपम धर्माचरण का जीवन है। अपने प्रगाढ़ विश्वास के ही कारण तो वे कट्टर होते हैं। हम सब लोगों के लिए चाहे उनका पथ जिसका वे इस दृढ़ता से अनुसरण करते हैं, ठीक न हो; पर उनके लिए तो है। हमारी धर्म-पुस्तकों में लिखा है कि मनुष्य को सीमा के बाहर भी दानी होना चाहिए। यदि एक जन दूसरे की प्राण-रक्षा के लिए स्वयम् भूखा रहकर अपने प्राण गँवाता है, तो वह ठीक करता है। यही नहीं, प्रत्युत उसे ऐसा आचरण करना भी चाहिए। ब्राह्मण से आशा की जाती है कि इस विचार को वह इस कठोर सीमा तक अनुसरण करे। जो भारतीय साहित्य से परिचित हैं, उन्हें महाभारत की एक सुन्दर कथा याद आवेगी जिसमें एक समूचे परिवार ने भूखे रहते हुए अपना अन्तिम परोसा हुआ भोजन एक भिखारी को देकर प्राण त्याग दिए। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं; क्योंकि ऐसी बातें अब भी होती हैं। मेरे गुरु के माता-पिता का चरित्र भी बहुत कुछ इसी प्रकार का था। वे बहुत ही निर्धन थे। फिर भी बहुधा एक ग़रीब आदमी

को भोजन देकर माता दिनभर स्वयं बिना अन्न के रहतीं। ऐसे माता-पिता के घर यह बालक जन्मा था और आरम्भ से वह एक अद्भुत बालक था। उसे अपना पिछला जीवन जन्म से ही याद था। जिस लिये वह संसार में आया था उसका भी उसे ध्यान था अपने ध्येय की पूर्ति के लिए उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी। अभी वह बिल्कुल बच्चा ही था जबकि उसके पिता का स्वर्गवास हो गया। बच्चा पढ़ने के लिए पाठशाला में बिठाया गया। ब्राह्मण-पुत्र को पाठशाला अवश्य जाना चाहिए; क्योंकि जाति-नियमों के कारण वह केवल विद्या-सम्बन्धी कार्य कर सकता है। भारतवर्ष की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली जो आज भी वहाँ अनेक स्थानों में विशेषकर सन्यासियों में प्रचलित है, वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से बिल्कुल भिन्न थी। विद्यार्थियों को कोई शुल्क न देना होता था। विद्या इतनी पवित्र समझी जाती थी कि धन लेकर उसका क्रय करना एक नितान्त गर्हित कार्य गिना जाता था। विद्या निःशुल्क, बिना किसी रोक-टोक के दी जानी चाहिए। शिक्षक विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा ही न देते थे; प्रत्युत् बहुत से उन्हें अपने पास से भोजन-वस्त्र भी देते थे। इन शिक्षकों के पोषण के लिए कुछ धनी परिवार विवाह आदि के अवसर पर अथवा किसी मृतक की अन्तक्रिया आदि करने पर उन्हें समुचित धन देते थे। कुछ दान उनके बँधे हुए थे जिसके बदले उन्हें विद्यार्थियों का पालन करना होता था। इस बालक का बड़ा भाई बहुत विद्वान् था। वह उसीके पास विद्याध्ययन के

लिए गया। थोड़े ही दिनों में इस बालक को विश्वास हो गया कि सांसारिक विद्याओं का लक्ष्य केवल भौतिक उन्नति की ओर ही है। इसलिये उसने अध्ययन छोड़ आत्मिक ज्ञान को खोजने का निश्चय किया। पिता की मृत्यु होने से यह परिवार और भी निर्धन हो गया था। बालक को अपनी जीविका आप उपार्जित करनी थी। कलकत्ते के पास एक जगह जाकर वह एक मन्दिर का पुजारी हो गया। ब्राह्मण के लिए पुजारी-कार्य बहुत निन्द्य समझा जाता है। हमारे मन्दिर आप लोगों के गिर्जाघरों की भाँति नहीं हैं। जनता वहाँ उपासना के लिए नहीं आती; क्योंकि भारतवर्ष में सार्वजनिक उपासना की प्रणाली नहीं है। धनी पुरुष केवल धार्मिक कार्य जानकर मन्दिर बनवाते हैं।

यदि किसीके पास अधिक धन-सम्पत्ति होती है, तो वह एक मन्दिर बनवाता है। उसमें ईश्वर के किसी अवतार की मूर्ति की वह स्थापना करता है। फिर ईश्वर के नाम पर पूजा के लिए उसे अर्पित कर देता है। उपासना बहुत कुछ आप लोगों के रोमन कैथलिक गिर्जाघरों की सी होती है यथा धार्मिक पुस्तकों में से कुछ वाक्य पढ़ना, मूर्ति की आरती करना, मूर्ति का सब प्रकार से आदर-सम्मान करना जैसे कि हम किसी महान पुरुष का करते हैं; मन्दिर में केवल यही होता है। जो मन्दिर में नित्य जाता है, वह न जाने वाले से कुछ बहुत अधिक धार्मिक नहीं माना जाता। वास्तव में न जानेवाला अधिक धार्मिक समझा जाता है, क्योंकि भारतवर्ष में धर्म प्रत्येक पुरुष का अपना विशेष

कार्य है। वह अपनी उपासना स्वेच्छानुसार अपने घर भीतर बैठकर ही करता है। प्राचीन-काल से ही हमारे देश में पुजारी-वृत्ति निन्द्य समझी गई है। इसके पीछे एक विचार और छिपा है। पैसा लेकर विद्या देना जब निन्द्य समझा गया है तब धर्म के लिए पैसा लेना और व्यापार करना तो उससे कहीं अधिक जघन्य कार्य है। आप सोच सकते हैं कि उस बालक के हृदय पर क्या बीती होगी जब जीविका के लिए बाध्य हो उसे पुजारी-वृत्ति ग्रहण करनी पड़ी होगी।

बंगाल में ऐसे अनेक कवि हो गए हैं, जिनके गीतों ने साधारण जनता के हृदय को मोह लिया है। कलकत्ते की गलियों में और प्रत्येक गाँव में वे गीत गाये जाते हैं। इनमें से अधिकांश धार्मिक गीत हैं। उनका मुख्य विषय जो कि सभी भारतीय-धर्मों में समानरूप से पाया जाता है, ईश्वर की अनुभूति है। भारतवर्ष में कोई भी धार्मिक पुस्तक ऐसी नहीं है, जिसमें इसी विचार का प्रतिपादन न किया गया हो। मनुष्य को ईश्वर का साक्षात् अनुभव होना चाहिए, उसे देखना चाहिए, उससे बातचीत करना चाहिए; यही धर्म है। भारत में अनेक महात्माओं की कथायें प्रसिद्ध हैं, जिन्हें ईश्वर ने दर्शन दिए हैं। ऐसे ही सिद्धान्तों पर भारतीयों का धर्म स्थिर है। उनकी धार्मिक पुस्तकें और ग्रन्थ ऐसे पुरुषों के लिखे हुए हैं जिन्हें आत्मिक विषयों का प्रत्यक्ष अनुभव था। यह पुस्तकें मस्तिष्क के लिए नहीं लिखी गईं न कितनी ही तर्क-बुद्धि उन्हें समझ ही सकती है; क्योंकि इन्हें उन

पुरुषों ने लिखा था जिनका अनुभव प्रत्यक्ष था। विना उनकी समानता प्राप्त किए कोई उन्हें समझ नहीं सकता। वे कहते हैं कि इस जीवन में ही ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव संभव है और धर्म का आरंभ इस प्रकार की अनुभव-क्रिया से ही होता है। सभी धर्मों का समानरूप से यह आन्तरिक सिद्धान्त है। इसी कारण एक जन जिसने वक्तृत्वकला में पूर्ण निपुणता प्राप्त की है तथा जिसकी तर्क-बुद्धि भी अत्यन्त प्रखर है, जब हमारे यहाँ वड़े लम्बे-चौड़े उपदेश देता है, तो भी कोई उसकी बात सुनने नहीं आता। इसके विरुद्ध एक निर्धन पुरुष को जो अपनी मातृ-भाषा भी कठिनता से बोल सकता है, आधा देश उसके जीवनकाल में ही उसे ईश्वर के समान पूजने लगता है। लोगों को किसी प्रकार विश्वास हो जाता है कि उसे प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है, धर्म उसके लिए तार्किक विवेचना का विषय-भर ही नहीं है, तथा वह धर्म, परमात्मा, आत्मा की अमरता आदि विषयों पर अँधेरे में ही नहीं टटोल रहा है। देश के कोने-कोने से आकर लोग उसके दर्शन करते हैं और धीरे-धीरे उसे ईश्वर का अवतार मान उसकी पूजा करने लग जाते हैं।

मन्दिर में अभयदायिनी माता की एक मूर्ति थी। यह बालक सन्ध्या, सवेरे उसकी पूजादि कार्य करवाता था। धीरे-धीरे उसके मन में यह प्रश्न बार-बार उठने लगा कि 'इस मूर्ति के पीछे क्या वास्तव में कुछ है? क्या यह सत्य है कि संसार में एक अभयदायिनी माता है? क्या वह चैतन्यरूप से रहती हुई संसार

की गति को निश्चित् करती है ? अथवा यह सब स्वप्न है ! धर्म में क्या कोई तथ्य है ?' इस प्रकार के तर्क-वितर्क का समय प्रायः प्रत्येक हिन्दू बच्चे के लिये आता है। हमारे देश में सन्देह करने का यह एक स्थायी विषय है कि जो हम कर रहे हैं, वह सत्य है वा नहीं। कोरे तार्किक सिद्धान्तों से हमें सन्तोष नहीं होता। यद्यपि आत्मा-परमात्मा के विषय में जितने भी तर्क-सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है, वहाँ विद्यमान हैं। तर्क और पुस्तकें लोगों को सन्तोष नहीं देतीं; क्योंकि सहस्रों पुरुषों के हृदय पर इसी प्रत्यक्ष ईश्वरानुभूति के विचार ने अधिकार जमा रक्खा है। क्या सत्य ही परमेश्वर कहीं है ? यदि है, तो क्या मैं उसे देख सकता हूँ ? क्या मैं सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता हूँ ? पाश्चात्यों के लिये यह सब बहुत ही असंभव जँचेगा पर हम लोगों के लिए इससे अधिक संभव कुछ नहीं। इस सिद्धान्त के लिए मनुष्य अपना जीवन तक उत्सर्ग कर देंगे। इसी विचार के पीछे सहस्रों हिन्दू प्रतिवर्ष अपना घर-बार छोड़ देते हैं और उनमें से बहुत से आगामी कठिनाइयों का सामना न कर सकने के कारण मृत्यु को प्राप्त होते हैं। पाश्चात्य देशीयों के लिए यह सब बहुत ही काल्पनिक जँचेगा और मैं उसका कारण भी समझता हूँ; पर पश्चिम में इतने वर्ष रहकर भी मैं समझता हूँ कि ऐसे विचार वाला जीवन ही वास्तविक जीवन है।

जीवन क्षण-स्थायी है; चाहे तुम गली में काम करनेवाले मजदूर हो, चाहे लाखों जनों के ऊपर राज्य करनेवाले चक्रवर्ती

सम्राट् हो, चाहे तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छे से अच्छा हो, चाहे बुरे से बुरा हो। हिन्दू कहता है कि जीवन की इस पहेली का केवल एक उत्तर है, परमात्मा और धर्म। यदि ये सत्य हों, तो जीवन सुखदायी रहने योग्य तथा सार्थक होता है; नहीं तो जीवन व्यर्थ का एक बोझ है। यह हमारा प्राच्य सिद्धान्त है; पर कोई भी तर्क उसे सिद्ध नहीं कर सकता। वह केवल उसे संभव कर सकता है, इससे अधिक नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव इन्द्रियों द्वारा होता है। दूसरों को धर्म की सत्यता दिखाने के लिए हमें धर्म की प्रत्यक्ष अनुभूति होनी चाहिए। तत्पश्चात् ईश्वर में विश्वास करने के लिए हमें ईश्वर का साक्षात् अनुभव चाहिए। इसलिए हमारा अनुभव ही हमें इन वस्तुओं की सत्यता बता सकता है।

इसी विचार ने बालक के हृदय को अपने वश में कर लिया। अपने जीवन का प्रतिक्षण वह इसी विषय का चिन्तन करते हुए बिताता। दिन प्रतिदिन वह रो-रोकर कहता—'माता, तू सत्य ही कहीं है अथवा यह सब कोरी भावुकता है? तेरा अस्तित्व भूले हुए लोगों और कवियों की कल्पना-मात्र है या एक अखण्ड सत्य है? पुस्तकों की विद्या से वह अनभिज्ञ था तथा स्कूली शिक्षा उसे मिली न थी। इसलिए उसका मस्तिष्क और भी स्वस्थ, स्वाभाविक और ताजा था। दूसरों के विचारों को न जानने के कारण उसके अपने विचार और भी पवित्र थे। यह विचार प्रतिदिन उसके हृदय में जोर पकड़ता गया यहाँ तक कि अन्त में उसे अन्य किसी बात की कुछ भी चिन्ता न होती।

पूजा वह भली-भाँति न करा पाता। छोटी छोटी बातों में भूल हो जाती। कभी वह मूर्ति का भोग लगाना भूल जावे, कभी सारे दिन आरती ही उतारा करे तथा और सब बातें भूल जावे। अन्त में मन्दिर में पुजारी-कार्य करना उसके लिए असंभव हो गया। मन्दिर छोड़ उसने एक समीपवर्ती वन में प्रवेश किया और वहाँ रहने लगा। अपने जीवन के इस भाग का इतिहास उन्होंने मुझसे कई बार कहा है। बालक को सूर्य के उदय-अस्त का भी ज्ञान न होता, न यही ध्यान था कि मैं किस प्रकार रह रहा हूँ। अपनी ओर से उसे पूर्ण विस्मृति हो गई तथा उसे खाने-पीने की भी सुधि न होती। इस समय एक दयालु सम्बन्धी उसकी प्रेम-पूर्वक देख-भाल करता तथा उसके मुँह में भोजन रख देता, जो वह चुपचाप स्वभाववश चबा लेता।

बालक के रात्रि दिन इसी प्रकार बीतने लगे। पूरा दिन बीत जाने पर संध्या समय जब मन्दिर के घण्टों की मधुर ध्वनि तथा उपासकों के गीत का मोहक शब्द वन-वृक्षों की शाखा-प्रशाखाओं को भेदकर बालक के कानों तक पहुँचता, तो वह बहुत दुखी होता और कातर होकर कहता—'माता एक दिन और भी व्यर्थ गया और तू न आई। मेरे इस लघु-जीवन का एक दिन बीत गया और मुझे सत्य के दर्शन न हुए।' कभी तो बहुत ही कातर हो जमीन पर लोट-लोटकर वह खूब रोता।

सत्य ज्ञान के लिए मनुष्य-हृदय में उत्पन्न होनेवाली यह तीव्र पिपासा थी। इसी पुरुष ने मुझसे कहा था—'मेरे

बच्चे, यदि एक कोठरी में एक स्वर्ण-मुद्राओं की थैली हो और बगल की कोठरी में एक डाकू सोता हो, तो क्या तुम समझते हो कि उसे नींद आवेगी? कभी नहीं। वह यही सोचता रहेगा कि कैसे दूसरी कोठरी में जाऊँ और रक्खा हुआ धन प्राप्त करूँ। तब क्या तुम समझते हो कि जिसे यह दृढ़ विश्वास होगा कि इस माया-प्रकृति के पीछे एक अमर सत्य है, एक परमात्मा है, एक सच्चिदानन्द है, जिसके समक्ष हमारे सभी इन्द्रिय सुख फीके हैं, वह बिना उसे प्राप्त किए रह सकता है? पल भर भी वह बिना प्रयत्न किए न रहेगा। लगन उसे पागल बना देगी।' इसी दैवी पागलपन ने बालक को भी घेर लिया। इस समय उसका कोई गुरु न था, सब कहते कि उसका दिमाग़ फिर गया है पर कोई कुछ बात बतानेवाला न था। दुनियाँ में होता ही ऐसा है। यदि कोई सांसारिक मिथ्या विभवों को त्याग देता है, तो लोग उसे पागल कहने लगते हैं; पर संसार का जीवन इन्हीं पागलों पर निर्भर होता है। इसी पागलपन में से उन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है, जिन्होंने हमारी इस दुनिया को हिला दिया है तथा इसी पागलपन से भावी की वह शक्तियाँ जन्मेंगी, जो संसार को फिर भी चकित कर देंगी। सत्य की प्राप्ति के लिए इसी प्रकार घोर आत्मिक युद्ध के दिन, सप्ताह और मास बीतने लगे। धीरे-धीरे बालक अद्भुत दृश्य देखने लगा। उसकी प्रकृति की छिपी हुई शक्तियाँ ऊपर आने लगीं। पर्दे के बाद पर्दा हटने लगा। माता स्वयं ही उसकी गुरु हुई और उसे वह गुप्त सत्य

बताया, जिसे वह खोज रहा था। इस समय वहाँ एक अत्यन्त सुन्दर रमणी आई, जो सुन्दरी होने के साथ ही एक बहुत बड़ी विदुषी थी। मेरे गुरु कहा करते थे कि वह विदुषी न थी, वरन् विद्या की देवी थी। मानुषी स्वरूप में सरस्वती थी। हमारी भारतीय जाति की विचित्रता आपको यहाँ भी दिखाई देगी। साधारण स्त्रियों के अविद्यान्धकार में घिरे रहने पर भी, तथा जिसे आप लोग स्वतंत्रता कहते हैं, उससे वञ्चित रहने पर भी, हमारे यहाँ आपको ऐसी आशातीत आत्मिक उन्नति करने वाली स्त्रियाँ मिल सकती हैं। वह एक सन्यासिनी थी ; क्योंकि स्त्रियाँ भी संसार त्याग, धन-सम्पत्ति छोड़ और अविवाहित रहकर परमेश्वर की उपासना करती हैं। वह आई और उस वन-बालक की कहानी सुनकर उसके पास जाना निश्चय किया। इस रमणी से उसे पहिली सहायता मिली। बालक के दुख को उसने शीघ्र पहचान लिया और उससे कहा—'मेरे बच्चे, वह पुरुष धन्य है, जो इस प्रकार पागल हो जाता है। सारी दुनिया ही पागल है, कोई धन के लिए, कोई सुख के लिए, कोई कीर्ति के लिए, कोई अन्य वस्तुओं के लिए। पर वह जन धन्य है, जो परमात्मा के लिए पागल होता है। ऐसे मनुष्य विरले ही होते हैं।' यह रमणी उस बालक के समीप वर्षों तक रही, उसे सभी भारतीय धर्मों की शिक्षा दी, योगाभ्यास की सभी क्रियाएँ बताईं, तात्पर्य यह कि बालक की विशाल शक्ति को आत्मिक उन्नति के उचित मार्ग पर लगा दिया।

बाद को उसी वन में भिक्षावृत्ति से रहनेवाला एक सन्यासी आया। वह बड़ा विद्वान् तथा सभी दर्शनों का ज्ञाता था। वह एक विचित्र आदर्शवादी था। वह कहता था कि संसार सत्य नहीं है और यह दिखाने के लिए कि वह कभी किसी घर में नहीं जाता, वर्षा, गर्मी, सभी समय बाहर मैदान में वह खुली हवा में ही रहता। वह बालक को वेदों की शिक्षा देने लगा और उसे शीघ्र मालूम हो गया कि कुछ बातों में उसका शिष्य गुरु से भी बढ़कर है। वह बालक के पास कई मास रहा, फिर उसे सन्यास-आश्रम में दीक्षित कर वहाँ से चला आया।

बालक के सम्बन्धियों ने सोचा था कि बालक का विवाह कर देने से उसका पागलपन दूर हो जायगा। भारतवर्ष में कभी कभी लड़कों के माता-पिता बिना उनके पूछे ही उनका विवाह कर देते हैं। इस बालक की १८ वर्ष की आयु में एक ५ वर्ष की कन्या से शादी कर दी गई थी। वास्तव में ऐसा विवाह तो सगाई-मात्र होता है। सच्चा विवाह तो तब होता है, जब कन्या युवावस्था को प्राप्त होती है और जब वर जाकर उसे अपने घर लिवा लाता है; पर यह बालक तो अपनी स्त्री के विषय में सब कुछ ही भूल गया था। अपने सुदूर घर में उस बालिका ने सुना कि उसका पति सत्य और धर्म की खोज में लगा है तथा कोई-कोई उसे पागल भी समझते हैं। सच्ची बात जानने की इच्छा से वह पति के पास स्वयं चल पड़ी। अन्त में जब वह अपने सन्यासी पति के सम्मुख आकर खड़ी हुई, तो तुरन्त उन्होंने

उसके अधिकार को स्वीकार कर लिया। यद्यपि भारतवर्ष में कोई मनुष्य स्त्री हो या पुरुष धार्मिक जीवन व्यतीत करने पर इस प्रकार के सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। नवयुवक सन्यासी उसके चरणों पर गिर पड़ा और बोला—"मैंने प्रत्येक स्त्री को माता-मय देखना सीखा है, फिर भी मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत हूँ।"

बालिका की आत्मा पवित्र और उन्नत थी। वह अपने पति के हृदय की महत्ता को पहचान सकती थी तथा उसके विचारों से उसे सहानुभूति थी। उसने तुरन्त पति को समझा दिया कि वह उन्हें सांसारिक माया-जाल में फिर नहीं फँसाना चाहती है। उसकी इच्छा केवल यह है कि वह उनके पास रहे, उनकी सेवा करे तथा उनसे शिक्षा ग्रहण करे। स्वामी के श्रेष्ठ भक्तों में से वह एक थी तथा उनकी वह देवता के समान पूजा करती। इस प्रकार अपनी स्त्री की स्वीकृति से अन्तिम बन्धन तोड़ वह अपना सन्यासी-जीवन बिताने के लिए स्वतंत्र हो गए।

इसके अनन्तर अन्य धर्मों के तथ्य जानने की उन्हें प्रबल इच्छा हुई। अभी तक अपना धर्म छोड़ अन्य किसी धर्म से वे परिचित न थे। दूसरे धर्मों के रहस्य को भी वह जानना चाहते थे। इसलिए वह अन्य धर्मों के गुरुओं के पास गए। इस बात का आप लोग सदा ध्यान रखिए कि गुरु से हमारा तात्पर्य बड़ी-बड़ी पुस्तकें पढ़नेवाले से नहीं है, वरन् उससे है, जिसे सत्य की स्वानुभूति हुई हो, जिसने सत्य को पुस्तकों द्वारा शताब्दियों बाद

न जाना हो। वह एक मुसलमान धर्मज्ञ के पास गए और रहने लगे। उसके बताए हुए नियमों के अनुसार वे आचरण करने लगे और उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि भली-भाँति नियमों का पालन करने पर वह उसी लक्ष्य पर पहुँचे हैं, जहाँ कि स्वधर्म-मार्ग से वह पहिले ही पहुँच चुके थे। ईसामसीह के सच्चे धर्म का पालन करने पर भी उन्हें वैसा ही अनुभव हुआ। देश के अन्य उपधर्म, जहाँ तक उन्हें मिले, उनका भी सच्चे हृदय से उन्होंने पालन किया और प्रत्येक बार वह एक ही लक्ष्य पर आकर रुके। इस प्रकार अपने अनुभव से उन्होंने जाना कि प्रत्येक धर्म का लक्ष्य एक ही है, एक ही बात वे सब सिखाते हैं। अन्तर केवल क्रिया-विधि में है और उससे भी अधिक भाषा में। वास्तविक लक्ष्य सबका एक ही है।

फिर उन्हें यह विचार हुआ कि पूर्ण मनुष्य होने के लिए स्त्री-पुरुष का भेद-भाव नष्ट हो जाना चाहिए। आत्मा तो न स्त्री है न पुरुष। स्त्री-पुरुष तो केवल हम शरीर से होते हैं। इसलिये जिसे सच्ची आत्मा की प्राप्ति करनी हो, उसे इस भेद को जी से निकाल देना चाहिए। पुरुष-शरीर पाने के कारण उन्होंने प्रत्येक वस्तु को नारी-मय देखना आरंभ किया। वह यह सोचने लगे कि हम स्त्री हैं, स्त्रियों के ही कपड़े पहनने लगे, स्त्री के समान ही बातचीत करने लगे तथा अपने कुटुम्ब की स्त्रियों में ही रहने लगे। अन्त में वर्षों के इस प्रकार के जीवन के पश्चात् स्त्री-पुरुष का भेदज्ञान उनके हृदय से बिल्कुल ही नष्ट हो गया।

मनुष्य-जीवन ने उनके लिये एक नया ही रूप धारण कर लिया।

हम पश्चिम में नारी-पूजा की बात बहुत सुनते हैं ; पर यहाँ नारी केवल अपने यौवन और सुन्दरता के लिये ही पूजी जाती है। हमारे गुरु प्रत्येक नारी को अभयदायिनी माता ही मानकर पूजते ; अन्य किसी कारण से नहीं। मैंने उन्हें उन स्त्रियों के चरणों पर गिरते देखा है, जिन्हें समाज छूता भी नहीं है तथा आँसू बहाते हुये यह कहते सुना है कि 'माता, एक रूप में तू गली में घूमती है, दूसरे में तू ही समस्त सृष्टि है। माता, मैं तुझे नमस्कार करता हूँ। नमस्कार करता हूँ।'

उस जीवन की सुन्दरता को सोचिये, जिसकी सारी सांसारिकता नष्ट हो गई है, जहाँ प्रति स्त्री का मुख बदलकर केवल अभयदायिनी, विश्व की कल्याणकारिणी, स्वर्गीय माता का ही दीप्त मुख दिखाई देता है। ऐसे मनुष्य ने सचमुच ही प्रति स्त्री के प्रति प्रेम और श्रद्धा करना सीखा है। इसीकी हमें आवश्यकता है। क्या तुम कहते हो कि नारी की पवित्रता कभी नष्ट भी हो सकती है ? नहीं, नारी की पवित्रता कभी नष्ट नहीं हुई न होगी। स्वभाव से ही वह छल-कपट पहिचान लेती है तथा सत्य, ज्ञान और पवित्रता को हृदय से लगाती है। सच्चे आत्म-ज्ञान के लिए इसी प्रकार की पवित्रता की नितान्त आवश्यकता है।

इसी प्रकार की कठोर और अछूत पवित्रता इस पुरुष के जीवन में भी आ गई। सभी जीवन-संग्रामों में वह विजय पा

चुका था। जिसकी कमाई के लिए जीवन के तीन चौथाई भाग को उन्होंने घोर परिश्रम करते हुए व्यतीत किया था, वही आत्म-ज्ञान का अमूल्य धन अब संसार को देने का समय आ गया था। उनके उपदेश और शिक्षा का ढङ्ग निराला ही था; क्योंकि वह कभी धर्म-गुरू का स्थान ग्रहण न करते। हमारे यहाँ धर्मोपदेशक ईश्वर के समान ही पूज्य समझा जाता है। माता-पिता के प्रति भी हम उतनी श्रद्धा-भक्ति नहीं दिखाते, माता-पिता हमें यह शरीर-मात्र ही देते हैं; पर गुरु तो हमारी आत्मा को मोक्ष-मार्ग बताता है। हम उसीकी सन्तान हो जाते हैं, वह हमें नव-जन्म देता है। सभी हिन्दू श्रेष्ठ धर्म-गुरु का आदर करते हैं, चारों ओर से घेरकर उसकी पूजा करते हैं। यह एक ऐसे ही धर्म-गुरु थे, पर उन्हें इसका तनिक भी ध्यान न था कि वे पूज्य हैं अथवा एक बड़े आत्म-ज्ञानी हैं। वह समझते थे कि जो कुछ मैं कहता हूँ, वह माता ही मुझसे कहलवाती है। वह सदा यही कहते थे—"यदि कभी मैं कोई अच्छी बात कहता हूँ, तो वह माता ही कहती है। मेरा उसमें क्या है?" अपने कार्य के विषय में उनका सदा यही विचार रहा और मृत्यु-पर्य्यन्त उन्होंने उसे न छोड़ा। इस मनुष्य ने किसी के आगे हाथ न पसारे। उनका सिद्धान्त था कि पहिले पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करो, पहिले आत्म-ज्ञान जानो, फल तुम्हें इसका अपने आप मिलेगा। एक उपमा जो वह बहुत दिया करते थे, यह थी—"जब कमल खिलता है, तो मधु-मक्खियाँ मधु के लिये स्वयं आ जाती हैं। उसी प्रकार

तुम अपने चरित्र-कमल को विकसित होने दो, फल इसका तुम्हें अपने आप मिलेगा।" सीखने के लिये यह एक आवश्यक पर विकट पाठ है। मेरे गुरु ने मुझे सैकड़ों ही बार उसे मुझे पढ़ाया, फिर भी मैं उसे कभी-कभी भूल जाता हूँ। विचार की शक्ति को बहुत कम लोग जानते हैं। यदि एक मनुष्य किसी गह्वर गुफा में जा अपने आपको बन्दकर वास्तव में कोई महत् विचार सोचकर मर जाता है, तो वह विचार गुफा की प्रस्तर-प्राचीरों को भी भेदकर वायु की तरंगों पर चलकर मनुष्य-जाति के हृदय में समा जायगा। विचार की ऐसी ही महती शक्ति है। अपने विचार दूसरों को बताने के लिये शीघ्रता करने की कोई आवश्यकता नहीं। पहिले अपने भीतर कुछ विचार भी तो इकट्ठे कर लो। वही सिखा सकता है, जिसके पास कुछ सिखाने को है; क्योंकि धर्म सिखाना कोरी बातें बनाना नहीं है। धर्म दिया जाता है। जिस प्रकार मैं तुम्हें एक फूल दे सकता हूँ, उसी प्रकार आत्मज्ञान भी दिया जा सकता है। यह बिल्कुल ही सत्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। भारतवर्ष में यह विचार बहुत प्राचीन समय से है। पश्चिम में इसीसे मिलता-जुलता धर्म-गुरुओं के उत्तराधिकार का विचार है अर्थात् उन रोमन कैथलिक धर्म-गुरुओं का सिद्धान्त जो अपने आप को ईसा-मसीह के बारह शिष्यों का क्रमानुसार शिष्य मानते हैं। इसलिये तुम्हारा पहिला श्रेष्ठ कर्त्तव्य अपना चरित्र बनाना है। सत्य को पहिले तुम स्वयम् जानो, फिर तुम्हें ऐसे बहुत मिलेंगे; जिन्हें तुम उसे सिखा

सकोगे। वे सब स्वयं ही तुम्हारे पास आवेंगे। मेरे गुरु का यही आदर्श था। वे किसीके भी दोष न निकालते थे।

वर्षों मैं उस पुरुष के साथ रहा; पर कभी भी मैंने उसे किसी भी धर्म के लिये एक भी निन्दा-वाक्य कहते नहीं सुना। सबके लिये उनके हृदय में समान सहानुभूति थी। उनकी पारस्परिक समानता को उन्होंने पहिचान लिया था। कोई ज्ञान, भक्ति अथवा कर्म-मार्ग का अनुसरण करे, चाहे रहस्यवादी हो, और संसार के मत-मतान्तर इन्हीं में से एक वा अधिक मत का प्रतिपादन करते हैं, फिर भी यह सब एक हो सकते हैं और भावी संसार यही करने भी जा रहा है। यही विचार उनका भी था। वह किसी की भी निन्दा न करते, वरन् सभी की अच्छाइयों को देखते।

सहस्रों की संख्या में लोग इस अद्भुत पुरुष को एक ग्राम्य भाषा में व्याख्यान देते हुए सुनने के लिये आते। उनके भाषण का प्रति शब्द ज्ञान और जोश से भरा रहता। व्याख्याता का व्यक्तित्व ही, जो कुछ भी वह कहता है, उसे न्यूनाधिक प्रभावशाली बनाता है, कहा चाहे जो जावे और उससे भी अधिक भाषा चाहे जौन ही हो; हमारा सब का ही ऐसा अनुभव होगा। हम लोग बहुत सुन्दर व्याख्यान, तर्क से भरे हुए अद्भुत व्याख्यान सुनते हैं; पर घर जाकर सब भूल जाते हैं। इसके विरुद्ध कभी-कभी सरल से सरल भाषा में हम दो वाक्य सुन लेते हैं, जो जीवन-यात्रा में सदा हमारे संग रहते हैं और हमसे

ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि उनका प्रभाव चिरस्थायी होता है। जो मनुष्य अपने व्यक्तित्व को शब्दों में रख सकता है, उसका भाषण अवश्य प्रभावशाली होगा ; पर उसका व्यक्तित्व भी महान् होना चाहिए। सभी शिक्षा लेना और देना है, गुरू देता, शिष्य लेता है ; पर इसके पहिले गुरु के पास कुछ देने को भी चाहिए और शिष्य को खुले हृदय से लेने के लिए तैयार रहना चाहिए।

भारतवर्ष की राजधानी कलकत्ता, जहाँ कि हमारे देश का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय है, जो कि प्रति वर्ष अपने यहाँ से सैकड़ों की संख्या में सन्देहवादी और भौतिकवादियों को जन्म दे रहा था, उसी कलकत्ते के समीप वह रहने लगे। देश के नाना विद्यालयों से लोग आ-आकर उनका भाषण सुनते थे। मैंने भी इनकी चर्चा सुनी और उनका व्याख्यान सुनने गया। वह एक सामान्य पुरुष लगते थे, कोई भी विशेषता मुझे न दिखी। वह बहुत ही सरल भाषा का प्रयोग करते। मैंने सोचा, क्या यह भी कोई बड़ा धर्मोपदेशक हो सकता है ? मैं उनके पास सरककर पहुँचा और वही प्रश्न जो मैंने जीवन भर औरों से पूछा था, उनसे भी पूछा—'क्या आपको ईश्वर में विश्वास है ?' उन्होंने उत्तर दिया—'हाँ।' 'क्या आप उसे सिद्ध कर सकते हैं ?' मैंने फिर पूँछा। उत्तर मिला—'हाँ।' मैंने पूछा—'कैसे।' "क्योंकि मैं ईश्वर को वैसे ही देख रहा हूँ जैसे तुम्हें, केवल तुम्हारे देखने से उसका देखना अधिक गूढ़ है।" इस उत्तर से मैं तुरन्त ही प्रभावित हो उठा। पहिली ही बार मुझे एक पुरुष मिला

जो कह सकता था कि मैंने परमेश्वर को देखा है, तथा धर्म एक दृढ़ सत्य है, जो जाना जा सकता है, सांसारिक वस्तुओं के समान और उनसे भी अधिक उसका भी अनुभव किया जा सकता है। मैं दिन प्रति दिन उस पुरुष के और निकट आता गया और अन्त में मैंने देखा कि धर्म दिया जा सकता है। एक स्पर्श, एक दृष्टिपात एक जीवन को बदल सकती है। मैंने बुद्ध, ईसा और मुहम्मद तथा उन प्राचीन धर्म-प्रवर्तकों का हाल पढ़ा था, जो कि खड़े हुए पुरुष से कहते—'तू संपूर्ण हो जा' और वह हो जाता था। अब मैंने उसकी सत्यता को जाना और जब इस पुरुष को देखा, तो सारा सन्देह आपसे आप लुप्त हो गया। वैसा किया जा सकता था और उनका कहना था कि धर्म संसार की अन्य किसी वस्तु से अधिक सुचारु रूप से दिया लिया जा सकता है। इसलिये पहिले आत्मज्ञान प्राप्त करो। कुछ देने के लिये अपने पास कर लो और फिर संसार के सम्मुख खड़े होकर उसे दे डालो। धर्म कोरी गप्पें हाँकना नहीं है, न थोथे सिद्धान्त, तर्क वा साम्प्रदायिकता ही है। धर्म सभा और साम्प्रदायों में नहीं रह सकता। आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध धर्म है, एक सभा में वह कहाँ से आवेगा? धर्म का तब तो व्यापार होने लगेगा और जहाँ भी व्यापार अथवा व्यापार के सिद्धान्त धर्म में लगाये जाते हैं, वहाँ आत्मज्ञान नष्ट हो जाता है। मन्दिर और गिर्जे बनवाने में धर्म नहीं है, न सार्वजनिक उपासना में सम्मिलित होने का ही नाम धर्म है। न सभाओं में, न व्याख्यानों

में, न पुस्तकों में, न शब्दों में—धर्म यहाँ कहीं नहीं है। धर्म आत्म-ज्ञान की अनुभूति में है। सत्य तो यह है कि हम सभी जानते हैं कि जब तक हमें स्वयं सत्य का अनुभव न होगा तब तक हमें उस पर विश्वास न होगा। चाहे जितना हम वाद-विवाद करें, चाहे जितने व्याख्यान सुनें, पर इनसे हमें कभी सन्तोष न मिलेगा; जब तक कि हमें स्वानुभव न होगा। उसी से हमारा सन्तोष होगा और इस प्रकार का अनुभव यदि हम केवल प्रयत्न करें, तो हम सबके लिये संभव है। धर्म के अनुभव के लिये पहला आदर्श त्याग का है। जहाँ तक हो सके, हमें त्याग करना चाहिये। अन्धकार और प्रकाश, सांसारिक सुख और आत्मिक आनन्द, यह दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। "ख़ुदा और शैतान की सेवा एक साथ ही तुम नहीं कर सकते।"

दूसरी बात इससे भी अधिक महत्व की है, जो मैंने अपने गुरू से सीखी है। वह यह सुन्दर सत्य है कि संसार के धर्म एक दूसरे के विरुद्ध नहीं हैं, न उनमें विशेष अन्तर ही है। एक अमर सनातन धर्म के ही वे विविध निदर्शन हैं। एक सनातन धर्म अनन्तकाल से रहा है और रहेगा। विविध देशों में वही धर्म विविध रूप धारण करता है। इसलिए हमें सब धर्मों का सम्मान करना चाहिए और जहाँ तक हो सके, उन सभी का पालन करना चाहिए। जाति-गुणों तथा भौगोलिक दशा से ही नहीं, धर्म-प्रवर्तक की व्यक्तिगत शक्तियों के अनुसार भी प्रत्येक धर्म का रूप निश्चित् होता है। एक मनुष्य में धर्म निरन्तर क्रिया

शीलता, कर्म के रूप में प्रकट होता है। दूसरे में अनन्य भक्ति तीसरे में रहस्यवाद, चौथे में दार्शनिकता—इसी प्रकार सब में धर्म का अलग-अलग रूप होता है। यह सरासर ग़लत है, जब हम दूसरों से कहते हैं—तुम्हारा मार्ग ठीक नहीं है। हमें इस रहस्य को खूब समझ लेना चाहिए कि एक सत्य के नाना रूप हो सकते हैं, अलग-अलग स्थानों से देखने से एकही सत्य तरह-तरह का दिखाई पड़ता है। इसे समझ लेने पर हमें किसी भी धर्म से द्वेष न रहेगा, सभी से प्रत्युत् सहानुभूति होगी। यह जान कर कि संसार में सबकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है, और एकही धर्म के लिए उनका आचरण भिन्न-भिन्न होगा, हमें एक दूसरे से द्वेष त्याग देना चाहिए। जैसे प्रकृति के अनेक रूप होते हुए भी वह एक है, उसके क्षणभंगुर सहस्र-सहस्र पार्थिव रूपों के पीछे एक अनन्त स्थायी और अनादि प्रकृति है, वैसेही मनुष्य भी है। एक छोटा सा अणु भी इस भारी ब्रह्माण्ड का एक बहुत ही लघु अंश है। इन सब नाना रूपों के होते हुए भी उन सबकी ही एक अनन्त आत्मा है। इस बात को हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। आज इस बात को समझने की सबसे अधिक आवश्यकता है। हमारा देश तो अनन्त धर्म-उपधर्मों का घर है। सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से जिस किसी के दिमाग़ में भी एक धार्मिक विचार उत्पन्न हुआ, वह अपने मत का झण्डा सबसे ऊँचा फहराना चाहता है। बचपन से ही संसार के धर्म-उपधर्मों को मैंने जान रक्खा है। मॉर्मन लोग तक भारत में धर्म-प्रचार

के लिए आए थे। मैं कहता हूँ, भारत उन सबकी आवभगत करो। भारतभूमि ही तो धर्म-प्रचार के लिए अच्छी भूमि है। और सब कहीं से यहाँ धर्म की जड़ अधिक जमती है। यदि भारत में तुम राजनीति सिखाने आओगे, तो हिन्दू उसे समझेंगे नहीं; पर यदि तुम धर्म का प्रचार करोगे, वो वह चाहे जितना विचित्र हो, तुम्हारे थोड़े ही समय में सहस्रों अनुयायी हो जावेंगे। बहुत संभव है कि अपने जीवन में ही तुम देवता के समान पूजे जाओ। मुझे यह देखकर हर्ष होता है, कि भारतवर्ष में इसीकी आवश्यकता है। हिन्दुओं के मत-मतान्तर सहस्रों हैं और बहुधा एक-दूसरे के अत्यन्त विरुद्ध होते हैं; फिर भी पूछोगे तो वे यही कहेंगे कि सभी मत और उपधर्म एक प्रधान धर्म के नाना रूप हैं। "जिस प्रकार नाना नदियाँ, भिन्न-भिन्न पर्वतों से निकल, कोई टेढ़ी, कोई सीधी बहती हुई सभी समुद्र के जल में मिल जाती हैं; उसी प्रकार सभी मत-मतान्तर अपने-अपने निराले मार्गों से अन्त में, हे ईश्वर! तुझे ही प्राप्त होते हैं।" यही कोरा सिद्धान्त नहीं; पर इसे एक दृढ़ सत्य जानना चाहिए। पर उन लोगों की भाँति नहीं, जो बड़ी उदारता दिखलाते हुए कहते हैं—"हाँ, हाँ, और धर्मों में भी कोई-कोई बातें बहुत अच्छी हैं।" (कोई कोई तो इतने उदार होते हैं कि सोचते हैं कि धार्मिक उन्नति होते हुए और धर्म बने हैं। वह धार्मिक उन्नति हमारे धर्म में आकर समाप्त हुई है; अतः हमारा धर्म तो पूर्ण है, अन्य अधूरे हैं।) एक महाशय कहते

हैं कि हमारा धर्म सबसे पुराना है, इसलिए सबसे अच्छा है। दूसरे महाशय कहते हैं, हमारा धर्म सबसे बाद का है, इसलिए और भी अच्छा है। हमें जानना यह चाहिए सभी धर्म मनुष्य को मुक्ति दे सकते हैं। तुमने मन्दिर और गिर्जों में जो भेद-भाव की बात सुनी है, वह सब मिथ्या प्रपञ्च है। सबका रक्षक वही एक परमात्मा है और न तुम, न मैं, न अन्य कोई आत्मा को रत्ती भर भी मुक्ति दे सकता है। मुक्तिदाता वही एक ईश्वर है। मैं नहीं समझता कि कैसे लोग अपने को आस्तिक कहते हुए समझते हैं कि परमात्मा ने सारा सत्य-ज्ञान मुट्ठी भर मनुष्यों को सौंपकर उन्हींको संसार की मुक्ति का ठेका दे दिया है। किसी भी मनुष्य के विश्वास में दखल न दो। यदि तुम्हारे पास कुछ अधिक सुन्दर देने को है, यदि जहाँ एक मनुष्य खड़ा है वहाँ से ढकेलकर उसे तुम और ऊपर ले जा सकते हो, तो वैसा करो; नहीं तो जो उसके पास है, उसे भी नष्ट न करो। सच्चा गुरु वही है, जो एक पल में मानों अपने सहस्रों रूप रख सकता है। सच्चा गुरु वही है, जो शिष्य के संग शिष्य बन सकता है, उसके शरीर में पैठ उसकी ही आंखों से देख सकता है, उसके ही कानों से सुन सकता है तथा उसके मस्तिष्क से विचार सकता है। ऐसा ही गुरु धर्म सिखा सकता है, अन्य नहीं। जितने खण्डन करने वाले, और दूसरे के धर्म को थोथा बताने वाले धर्म गुरु हैं, उनसे संसार का कोई भला नहीं हो सकता।

अपने गुरू को देखकर मैंने समझा कि इस जीवन में भी

मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर सकता है। उस मुखारविन्द ने कभी किसीके लिए कोई निन्दा-वाक्य नहीं कहा, न किसीके दोष ही निकाले। वे आंखें बुराई देख ही न सकतीं थीं, उस मस्तिष्क के लिए बुराई की कल्पना करना भी असंभव था। अच्छाई छोड़ वह कुछ न देख सकते थे। यह अपार पवित्रता, यह अन्यतम-त्याग आत्म-ज्ञान पाने के दो रहस्य-मय मार्ग हैं। वेद कहते हैं— "न तो धन-सम्पत्ति से, न सन्तान-उत्पत्ति से, केवल त्याग से ही तुम अमरत्व प्राप्त कर सकते हो।" ईसा ने भी ऐसा ही कहा है "जो कुछ तुम्हारे पास हो, उसे बेचकर ग़रीबों को दे दो और फिर मेरे अनुयायी हो।"

यही बात बड़े-बड़े धर्म-प्रवर्तकों और सन्तों ने कही है और उसीके अनुसार उन्होंने जीवन भर आचरण भी किया है। विना त्याग के आत्मज्ञान कैसे मिल सकता है ? सर्वत्र सभी धर्मों का मूल तत्व यह त्याग है और जिस धर्म में भी त्याग का अंश कम होगा, इन्द्रिय-सुख उतना ही अधिक होगा, फलतः आत्म-ज्ञान भी उतना ही कम होगा। वह मनुष्य तो त्याग की मूर्ति था। हमारे देश में जो सन्यासी हो उसके लिए घर-बार धन-दौलत का त्यागना आवश्यक है, मेरे गुरु ने इस नियम का अक्षरशः पालन किया।

ऐसे सैकड़ों थे, जो उन्हें कोई भेंट देकर अपने को कृतकृत्य मानते, जो सहस्रों की थैलियां उनके चरणों पर विना मांगे ही निछावर कर देते ; पर ऐसे ही मनुष्यों से वह दूर भागते थे।

त्याग करना कोई उनसे सीख सकता था, धन-वैभव की इच्छा और इन्द्रिय सुख पर उन्होंने पूर्ण विजय पाई थी। इन दिनों में ऐसे त्याग की आवश्यकता है, जब मनुष्य समझने लगे हैं कि वे अपनी "जरूरियातों" के बिना रह ही नहीं सकते और जब वे दिन-प्रतिदिन प्रबल वेग से बढ़ती जा रही है। आज आवश्यकता है ऐसे पुरुष की जो संसार के इन अविश्वासियों के सन्मुख खड़ा होकर उनसे कहे—देखो, मैं तुम्हारे धन, वैभव, कीर्ति और गौरव की तृण भर भी पर्वाह नहीं करता और संसार में ऐसे पुरुष अभी हैं।

मेरे गुरु के जीवन का पहला भाग आत्मज्ञान एकत्रित करने में लगा था, शेष भाग उसे वितरण करने में। झुण्ड के झुण्ड मनुष्य उनकी बातें सुनने आते और चौबीस घण्टों में वह बीस घण्टे निरन्तर बातें ही किया करते और यह भी एक दिन के लिए नहीं वरन् महीनों तक यही क्रम जारी रहा। यहाँ तक कि इस अपार परिश्रम के कारण उनके शरीर ने जवाब दे दिया। सहस्त्रों में छोटे से छोटे ने भी यदि उनकी सहायता चाही, तो मनुष्य-जाति के लिये अपने असीम प्रेम के कारण उन्होंने उसे सहायता देना अस्वीकार नहीं किया। धीरे-धीरे उनके गले में एक प्राण-घातक रोग उत्पन्न हो गया, फिर भी उन्होंने अपने परिश्रम में कमी न की। जैसे ही वह सुनें कि मनुष्य उन्हें देखने के लिये खड़े हैं, वह उन्हें अन्दर आने देने के लिये हठ करते तथा उनके सभी प्रश्नों का उत्तर देते। एक बार एक पुरुष ने

उनसे पूछा—'महाराज, आप एक बड़े भारी योगी हैं, फिर शरीर की ओर तनिक ध्यान देकर आप अपने रोग को अच्छा क्यों नहीं कर लेते ?" पहिले उन्होंने कोई उत्तर न दिया ; पर प्रश्न के दुहराये जाने पर वह बड़ी शीलता से बोले—'मेरे मित्र, मैं समझता था कि तुम ज्ञानी होगे ; पर तुम भी सांसारिक मनुष्यों की सी बातें करते हो । यह मन तो ईश्वर का हो चुका । क्या तुम कहते हो कि मैं उसे वापस ले लूँ, इस शरीर के लिये जो कि आत्मा का पिंजड़ा-मात्र है ?"

इसी प्रकार वह धर्मोपदेश करते रहे । अन्त में चारों तरफ यह खबर फैल गई कि अब वह शरीर-त्याग करने वाले हैं; जिसका फल यह हुआ कि मनुष्य और भी अधिक संख्याओं में उनके पास आने लगे । आप लोग इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि भारतवर्ष में लोग किस प्रकार इन धर्म-गुरुओं के पास आते हैं, तथा उन्हें चारों ओर से घेरकर जीवित ही देवता बना देते हैं । सहस्रों उनके वस्त्र के छोर को छूकर ही अपने आपको धन्य मानते हैं । दूसरों के आत्मज्ञान का इस प्रकार सम्मान करने से ही आत्मज्ञान बढ़ता है । जिस वस्तु की जिसे चाहना है, वह यदि उसका सम्मान करता है, तो वह उसे अवश्य मिलेगी । यही बात जातियों के लिये भी सत्य है । यदि भारतवर्ष में तुम कोई राजनैतिक व्याख्यान देने जाओ, तो कितना ही सुन्दर वह क्यों न हो, तुम्हें कठिनता से थोड़े से सुननेवाले मिलेंगे । पर जाकर तनिक धर्मोपदेश करो, कोरा उपदेश ही

नहीं, सच्चा धर्माचरण भी करो, तो देखो सैकड़ों लोग तुम्हारे पैर छूने के लिये तुम्हें चारों ओर से घेर लेंगे। जब लोगों ने सुना कि यह पवित्रात्मा उनके बीच से चली जानेवाली है, तो वे और भी अधिकाधिक उनके पास आने लगे। मेरे गुरु अपने स्वास्थ्य का तनिक भी ध्यान न रखते हुए उन्हें लगातार उपदेश देते रहे। हम लोग इसे बन्द न कर सके। बहुत से लोग बड़ी दूर-दूर से आते और जब तक उनके प्रश्नों का वह उत्तर न दे लेते, शान्ति से न बैठते। वह कहते—जब तक मुझमें बोलने की शक्ति है, मैं उन्हें अवश्य उपदेश दूँगा, और इसीके अनुसार वह कार्य भी करते थे। एक दिन उन्होंने हम लोगों से कहा कि आज हम यह शरीर त्याग देंगे, फिर समाधि लगाकर वेदों के पवित्र मन्त्रों का उच्चारण करते हुए उन्होंने इस लोक से प्रस्थान किया।

उनके विचार और उनका सन्देश ऐसे बहुत कम लोगों को मालूम था, जिनमें उनके प्रचार करने की योग्यता थी। अन्य लोगों में उनके अनुयायी कुछ नवयुवक भी थे, जिन्होंने संसार त्याग दिया था तथा जो उनके कार्य को आगे करने के लिये तैयार थे। उन्हें नष्ट करने की चेष्टाएँ भी की गईं, पर उस महान् जीवन के आदर्श से उत्साहित हो वे दृढ़ता-पूर्वक स्थिर रहे। उस महान् पुरुष से संसर्ग होने के कारण उन्होंने मैदान न छोड़ा। ये लोग सन्यासी थे। कलकत्ते की ही गलियों में जहाँ वे पैदा हुए थे, वे भिक्षा-वृत्ति करते, यद्यपि उनमें से कई बड़े धनी घरानों के थे। पहिले उन्हें बड़े विरोध का सामना करना पड़ा;

पर धीरे-धीरे धैर्य के साथ दिन प्रति दिन वे समस्त भारत में अपने गुरु के सन्देश का प्रचार करते रहे यहाँ तक कि सारा देश उनके प्रचार किये हुए विचारों से भर गया। बंगाल के एक सुदूर गाँव के इस पुरुष ने बिना कोई शिक्षा पाये अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति के ही बल पर सत्य का अनुभव किया तथा दूसरों को उसे बताया और अन्त में उसका प्रचार करने के लिये थोड़े से नवयुवकों को ही छोड़ गया।

आज श्रीरामकृष्ण परमहंस का नाम भारतवर्ष और उसके कोटि-कोटि पुरुषों में प्रसिद्ध है। यही नहीं, उस पुरुष की शक्ति हमारे देश की सीमा को भी लाँघ चुकी है और यदि संसार में कहीं भी सत्य और आत्मज्ञान का एक भी शब्द मैंने कहा है, तो मैं उसके लिए अपने गुरु का ही आभारी हूँ। जो भूलें हुई हैं वे मेरी हैं।

वर्तमान संसार के लिये स्वामी रामकृष्ण का यह सन्देश है—"सिद्धान्त, प्राचीन अन्धविचार, मतमतान्तर, गिर्जे, मन्दिर—किसी की भी चिन्ता न करो। मनुष्य-जीवन का सार जो आत्मज्ञान है, उसके समक्ष उनका कुछ भी महत्व नहीं। मनुष्य में जितना ही आत्मज्ञान बढ़ेगा उतना ही संसार का वह अधिक उपकार करेगा। उसीका सञ्चय करो, पहिले उसे प्राप्त करो और किसी धर्म में दोष न निकालो; क्योंकि सभी धर्म और मतों में कुछ न कुछ अच्छाई अवश्य होती है। अपने जीवन के आचरण से यह बता दो कि धर्म का अर्थ शब्द-समूह नहीं, न केवल नाम न सम्प्रदाय है; धर्म का अर्थ सच्चा आत्मज्ञान है। जिन्होंने इसे

प्राप्त किया है, वे ही धर्म के रहस्य को समझ सकते हैं। जिन्हें आत्मज्ञान मिल चुका है वही उसे दूसरों को भी दे सकते हैं तथा मनुष्य-जाति के सच्चे शिक्षक हो सकते हैं। प्रकाश की वे ही सच्ची शक्तियाँ हैं।"

जितने ही इस प्रकार के पुरुष एक देश में उत्पन्न होंगे, वह देश उतनी ही उन्नति करेगा। जिस देश में ऐसे पुरुष बिल्कुल ही नहीं हैं, उस देश का विनाश निश्चित है। कोई भी उसकी रक्षा न कर सकेगा। इसीलिये मनुष्य-जाति के लिये मेरे गुरु का सन्देश है—आत्मज्ञानी बनो और सत्य का स्वयं अनुभव करो। अपने भाइयों के लिये त्याग करो। उनके लिये प्रेम की लम्बी-चौड़ी बातें करना छोड़ जो कहते हो, उसे कर दिखाना सीखो। त्याग और सत्यज्ञान की अनुभूति का समय आ गया है। संसार के धर्मों की सभ्यता तभी दिखाई देगी। तुम्हें ज्ञात होगा कि किसीसे द्वेष करने की कोई आवश्यकता नहीं और तभी तुम मनुष्य-जाति की सच्ची सेवा कर सकोगे। सभी धर्मों की आन्तरिक एकता को साफ़-साफ़ समझाना ही मेरे गुरु का उद्देश्य था। अन्य धर्म-गुरुओं ने अपने नाम से विशेष धर्म चलाये हैं; पर उन्नीसवीं शताब्दी के इस महान् पुरुष ने अपने लिए किसी बात की आकांक्षा न की। उन्होंने किसी भी धर्म में दखल न दिया, क्योंकि वह जान चुके थे कि सभी धर्म एक अमर सनातन धर्म के विभिन्न रूप हैं।

---

# सर्वव्यापी परमात्मा

हमारे जीवन का अधिकांश भाग बुराइयों से भरा रहता है। बुराइयों का हम चाहे जितनी दृढ़ता से सामना करें, वे अनन्त प्रतीत होती हैं। इन्हीं पर विजय पाने की चेष्टा हम आदि काल से करते आ रहे हैं; पर आज की दशा पहिले से अधिक उत्साह-जनक दिखाई नहीं देती। जितने ही उनसे बचने के हम उपाय निकालते हैं, उतनी ही बारीक बुराइयाँ हमें और मिल जाती हैं। सभी धर्म इनसे बचने का एक उपाय 'ईश्वर' को बताते हैं। सभी धर्म हमें बताते हैं कि यदि आजकल के भौतिकवादियों की भाँति इस प्रत्यक्ष संसार को तुम सत्य समझोगे, तो सिवाय बुराई के संसार में और कुछ न रहेगा। पर धर्म कहते हैं कि इस संसार के परे भी कुछ है। हमारी इन्द्रियों से भोगा जाने-वाला यह ऐहलौकिक जीवन हमारे वास्तविक जीवन का एक बहुत ही छोटा और क्षुद्र भाग है। इसके पीछे और परे वह अनन्तशील है, जहाँ पर कि कोई भी बुराई नहीं है, व जिस शक्ति को गॉड, अल्लाह, जिहोवा, जोह आदि आदि कहा जाता है। वेदान्ती उसे 'ब्रह्म' कहता है। फिर भी हमारा ऐहलौकिक जीवन तो होता ही है।

धर्म जो उपदेश देते हैं, उससे पहले तो यही प्रभाव पड़ता है कि इस जीवन का ही अन्त कर दें। प्रश्न यह है कि इस जीवन की बुराइयों का कैसे सुधार हो, और यह उत्तर आपसे आप ही मिलता है :—उसका अन्त ही क्यों न कर दो! इस उत्तर को सुनकर एक पुरानी कहानी का स्मरण हो आता है। एक पुरुष के माथे में एक मसा बैठ गया। उसके मित्र ने उसे उड़ाने की इच्छा से उस पुरुष के मस्तक में ऐसा डंडा मारा कि मनुष्य और मच्छड़ दोनों मर गए। जीवन की बुराइयों के लिए भी वैसा उपाय ठीक जान पड़ता है। जीवन पापों से भरा है, संसार बुराइयों का घर है—यह एक ऐसा सत्य है, जिसे सभी अनुभवी पुरुष मानेंगे।

धर्म क्या उपाय बताते हैं! यही कि यह संसार मिथ्या है। इस संसार के परे ही कुछ है, जो सत्य है। पर यही तो विवाद की जड़ है। ऐसे उपाय से तो जीवन ही नष्ट हो जावेगा। फिर वह उपाय ही कहाँ रहा? तो क्या कोई उपाय नहीं? यह देखिये दूसरा उपाय। वेदान्त कहता है कि जो अन्य धर्म इन बुराइयों से बचने का उपाय बताते हैं, वह ठीक है; पर उसको ठीक से समझना चाहिए। धर्म इस उपाय को भली भाँति साफ़-साफ़ शब्दों में समझाकर नहीं कहते, इसलिये बहुधा उसका मिथ्या अर्थ भी लगा लिया जाता है। हम चाहते यह हैं कि हृदय और मस्तिष्क बराबर एक साथ कार्य करें; पर हृदय वास्तव में बड़ा है। जीवन-पथ पर आगे बढ़ने के लिए उत्साहित करनेवाली

भावनाएँ हमारे हृदय से ही उत्पन्न होती हैं। मुझे यदि तनिक भी हृदय न देकर मस्तिष्क ही दिया जावे, तो मैं अवश्य ही उस मस्तिष्क को न लेकर तनिक सा भी हृदय लेना अवश्य पसन्द करूँगा। जिसके पास केवल हृदय है, उसके लिये जीवन और उन्नति संभव है; पर जिसके पास कोरा मस्तिष्क है, वह नीरसता के कारण अवश्य मर जायगा।

पर हम यह भी जानते हैं कि जो केवल अपने हृदय के अनुसार कार्य करेगा, उसे बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। उसके लिये भी गड्ढों में गिरना असंभव नहीं। अपेक्षा है हमें हृदय और मस्तिष्क के पारस्परिक सम्मेलन की। मेरा यह तात्पर्य नहीं कि इस प्रकार के समझौते के लिये कोई थोड़ा-सा हृदय अथवा थोड़ा सा ही मस्तिष्क रक्खे; पर मैं कहता हूँ कि प्रत्येक पुरुष अपनी शक्त्यानुसार हृदय और भावुकता तथा मस्तिष्क और बुद्धि रक्खे।

हमारी इच्छाओं का क्या कहीं अन्त है? क्या संसार ही अनन्त नहीं? इसलिये यहाँ असीम भावुकता और असीम बुद्धि व विचार के लिये पर्याप्त क्षेत्र है। उन सबको एकत्रित होने दो और परस्पर मिलकर कार्य करने दो।

इस बात को बहुत से धर्म भली प्रकार जानते हैं और उसे बहुत साफ और शुद्ध शब्दों में कहते भी हैं; पर वे सब एक ही भूल करते हैं और वह यह कि अपने हृदय, अपनी भावुकता के कारण वे अपने सत्यपथ को भूल जाते हैं। संसार में बुराई है,

अतः संसार को त्याग दो—निश्चय ही सभी धर्मों का यही एक उपदेश है। संसार को त्याग दो। इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि सत्य जानने के लिए हमें मिथ्या का त्याग करना होगा। अच्छाई लेने के लिए बुराई और जीवन लेने के लिए मृत्यु त्यागनी ही पड़ेगी।

पर जीवन से हम जो कुछ समझते हैं, जैसा जीवन देखते हैं तथा जैसा इंद्रियों या जीवन हम व्यतीत करते हैं, यदि इस सिद्धांत के अनुसार वह जीवन हमें नष्ट करना पड़ा, तो फिर रहा ही क्या? यदि इस जीवन को हम त्याग दें, तो फिर शेष कुछ नहीं रहता।

हम इस बात को तब और भी भली प्रकार समझेंगे, जब हम वेदान्त के और भी गूढ़ और दार्शनिक विषयों का विवेचन करेंगे; पर इस समय के लिए तो मुझे यही कहना है कि वेदान्त में ही इस समस्या का सन्तोष-जनक उत्तर मिलता है। मैं अभी केवल इस विषय में वेदान्त की शिक्षा बताऊँगा और वह है—संसार को ब्रह्म-मय देखना।

वेदान्त वास्तव में इस संसार की उपेक्षा नहीं करता। त्याग के आदर्श ने वेदान्त से अधिक उच्चता कहीं नहीं प्राप्त की फिर भी वेदान्त नीरस आत्मघात की शिक्षा नहीं देता। उसकी शिक्षा है:—संसार को ब्रह्म-मय देखो। संसार जैसा दिखाई देता है, जिसे तुम सच्चा संसार समझते हो उसे त्याग दो और वास्तविक संसार को जानो। उसे ब्रह्म-मय देखो। वेदान्त के ऊपर लिखी गई पुस्तकों में सर्व प्रथम, सबसे पुराने उपनिषद् के आरम्भ में

ही लिखा है :—संसार में जो कुछ भी है, जहाँ कहीं भी है, वह सब ब्रह्म-मय है।

मिथ्या आशावाद में विश्वास कर तथा बुराइयों की ओर से आँख मींचकर नहीं, वरन् प्रत्येक वस्तु में ईश्वर जान हमें संसार को ब्रह्ममय देखना चाहिए। इस प्रकार से हमें संसार का त्याग करना चाहिए और संसार त्यागने के बाद क्या रहता है? ब्रह्म। इसका अर्थ क्या हुआ? इसका अर्थ यह नहीं कि तुम अपनी स्त्रियों को अपने रास्ते जाने के लिए छोड़ दो, वरन् यह कि तुम उन्हें रक्खो; पर उन्हें परमात्मा-मय देखो। अपने बाल-बच्चों को त्याग दो। इसका क्या अर्थ हुआ? अपने बच्चों को लेकर गली में फेंक दो जैसा कि प्रत्येक देश में कुछ पशु करते हैं? कदापि नहीं। यह तो धर्म नहीं, प्रत्युत घोर अमानुषिकता है। उसका अर्थ यह है कि बच्चों में भी परमात्मा को देखो। इसी प्रकार सब वस्तुओं में उसे देखो। जीते, मरते, सुख में, दुख में, संपत्ति में, विपत्ति में, सदैव संसार को ब्रह्ममय देखो। आँखें खोलो और उस ब्रह्म को पहँचानो—यही वेदान्त की शिक्षा है। तुम्हारा अनुभव अधूरा था और बुद्धि क्षुद्र थी, अतः अपनी कमजोरियों से कल्पित संसार को त्याग दो। जिस संसार के विषय में तुम इतने दिनों तक सोचते रहे हो और जिसका तुम्हें इतना मोह है, यह तुम्हारे कल्पना का संसार है। उसे त्याग दो। आँखें खोलो और देखो कि तुम्हारा संसार कभी था ही नहीं, वह केवल माया था। जो वास्तव में था वह ब्रह्म था। बच्चों में, स्त्री में, पति में, अच्छाई

में, बुराई में, हत्यारे में, पापी में, पाप में, जीवन में, मृत्यु में—सबमें वही एक ब्रह्म है।

यह भी एक विकट उपाय है, पर इसी मुख्य सिद्धान्त को वेदान्त सिद्ध करना चाहता है, उसको सत्यता दिखाना चाहता है, उसकी शिक्षा देना चाहता है, उसका प्रचार करना चाहता है।

जीवन की आपत्तियों और बुराइयों से हम इसी प्रकार बच सकते हैं। किसी वस्तु की इच्छा न करो। हमारे दुःख का कारण क्या है? हमारी इच्छाएँ। तुम किसी वस्तु की इच्छा करते हो, तुम्हें वह वस्तु नहीं मिलती, परिणाम यह होता है कि तुम दुखी होते हो। जब हम अपनी सब इच्छाओं को त्याग देंगे, तो क्या होगा? दीवालों के कभी इच्छाएँ नहीं होतीं और वे कभी दुखी नहीं होतीं। नहीं, पर वे कभी उन्नति भी नहीं करतीं। इस कुर्सी के कोई इच्छा नहीं है, यह कभी दुखी नहीं होती पर यह सदा कुर्सी ही रहती है। सुख में गौरव है और दुख में भी। मैं तो कहता हूँ बुराई भी फ़ायदे के लिए है। विपत्ति में पाई हुई शिक्षा के महत्व को हम सभी जानते हैं। जीवन में हमने ऐसी अनेक बातें की होंगी, जिन्हें जी कहता है, कभी न करते, तो अच्छा होता; फिर भी उनसे हमें अलभ्य शिक्षा मिली है। अपने लिए मैं यह कहकर प्रसन्न हूँ कि मैंने कुछ अच्छाई की हैं और कुछ बुराई। मुझे इस बात का हर्ष है कि मैंने कुछ अच्छी बातें की हैं, कुछ बुरी बातें की हैं, कुछ ठीक की हैं, कुछ ग़लत की हैं; क्योंकि प्रत्येक ग़लती से मुझे बड़ी-बड़ी शिक्षाएँ मिली हैं।

मैं जैसा इस समय हूँ, अपने समस्त कार्यों और विचारों का परिणाम हूँ। प्रत्येक कार्य और विचार का मनुष्य के ऊपर प्रभाव पड़ता है। मेरी उन्नति का परिणाम यह है कि जीवन-पथ पर, हँसता हुआ मैं बढ़ता जाता हूँ। समस्या अब और भी टेढ़ी हो गई। हम सभी जानते हैं कि इच्छाएँ करना बुरा है, पर इच्छाओं के त्याग देने का क्या अर्थ है? जीवन का कैसे निर्वाह हो? यह तो वही पहले का सा उपाय हुआ कि मर्ज के साथ मरीज को भी मार दो। इसका उत्तर यह है। यह नहीं कि तुम धन-सम्पत्ति न रक्खो, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति न करो, वह वस्तुएँ न रक्खो, जो केवल विलासिता के लिए हैं। जो कुछ तुम चाहते हो और कभी-कभी जो न चाहते हो, उसे रक्खो। केवल सत्य को जानो, उसका अनुभव करो। यह धन-सम्पत्ति किसी की नहीं है। अधिकार और मालिकपने का विचार छोड़ दो। तुम उसके कोई नहीं हो, न मैं हूँ, न अन्य कोई। यह सब परमात्मा का है; क्योंकि उपनिषद् के पहले सूत्र ने ही हमें बता दिया है कि सभी वस्तुओं में ब्रह्म को देखो। जो इच्छा तुम्हारे हृदय में उठती है, उसमें वही परमात्मा है; उस इच्छा के वशीभूत हो, जो वस्तुएँ तुम खरीदते हो, उनमें भी वही है। तुम्हारी सुन्दर पोशाक और आभूषणों में वही है। इसी प्रकार सदा सोचना चाहिए। इस प्रकार जब संसार को देखोगे, तब सभी वस्तुओं का स्वरूप दूसरा ही हो जायगा। यदि तुम अपने कपड़ों में अपनी बात-चीत में, अपने शरीर में, अपनी

सूरत-शक्ल में, प्रत्येक वस्तु में परमात्मा को ही देखोगे तो हृदय दूसरा ही हो जायगा। संसार दुःख और विपत्तियों के घर के बदले स्वर्ग प्रतीत होगा।

"परमात्मा का राज्य तुम्हारे भीतर ही है" ( ईसा )। वेदान्त ने यही बात कही है। औरों ने और सभी महापुरुषों ने यही बात कही है। "जिसके आँखें हों वह देखे, जिसके कान हों वह सुने" ( ईसा )। वेदान्त ने इस सिद्धान्त की सत्यता को भी सिद्ध किया है। उसने यह भी सिद्ध किया है कि जिस सत्य की हम खोज में थे, वह सभी समय हमारे ही साथ था। अज्ञान-वश, हम सोचते थे कि हमने उसे खो दिया है, कष्ट और विपत्तियाँ सहते हुए हम संसार भर में रोते-चिल्लाते फिरे जब कि सत्य हमारे ही हृदय में था। इसीके अनुसार तुम भी कार्य करो।

यदि संसार त्यागना सत्य है और हम उसका वही पुराना भद्दा अर्थ लगावें, तब तो हमें आलसी बन, मिट्टी के पुतलों की भाँति कुछ काम न करना चाहिए। पूरे भाग्यवादी बनकर अब तो हमें कुछ सोचना चाहिए न कुछ काम करना चाहिए। होनहार के दास बनकर प्रकृति के नियम जो हमसे चाहेंगे करावेंगे और हम इस जगह से उस जगह ठोकर खाते फिरेंगे। यही परिणाम होगा। पर हमारा यह तात्पर्य नहीं है। हमें काम करना चाहिए। साधारण मनुष्य, अपनी इच्छाओं के दास, काम क्या जानें? अपनी इच्छाओं और वासनाओं से प्रेरित हो जो काम करता है, वह काम क्या जाने? काम वही करता है, जो

अपनी इच्छाओं और अपने लाभालाभ के विचार से प्रेरित नहीं होता। काम वही करता है, जिसका कोई आन्तरिक उद्देश्य नहीं है, जिसे अपने काम से कोई लाभ नहीं है।

एक चित्र देखकर कौन अधिक प्रसन्न होता है, चित्र बेचने वाला या देखनेवाला? बेचनेवाले का ध्यान अपने हिसाब और नफ़े-मुनाफ़े की ओर है। उसके दिमाग़ में अन्य किसी विचार के लिए स्थान नहीं। उसका ध्यान नीलाम करनेवाले के हथौड़े और बोलियों की ओर है। वह यही देख रहा है कि बोलियाँ कितनी तेज़ी से चढ़ रही हैं। चित्र की सुन्दरता का वही आनन्द ले रहा है, जो वहाँ ख़रीदने या बेचने की इच्छा से नहीं गया है। चित्र की ओर देखता है और प्रसन्न होता है। यह संसार एक चित्र है। इच्छाओं के नष्ट होने पर मनुष्य इस संसार के सौन्दर्य रस का पान करेंगे और तब इस क्रय-विक्रय का, हमारे तुम्हारे के मिथ्या अधिकार विचार का भी अन्त हो जायगा। धन देनेवाला महाजन चला जायगा और बेचने और ख़रीदने वाले भी चले जाँयगे, तब यह संसार एक सुन्दर चित्र भर रह जायगा। निम्नलिखित से ईश्वर की अधिक सुन्दर कल्पना मैंने कहीं नहीं देखी। "परमात्मा प्राचीन कवि, आदि कवि है। सारा ब्रह्माण्ड उसकी कविता है जो कि छन्द, मात्रा और लय के साथ अनन्त रस में डुबोकर लिखी गई है।" अपनी इच्छाओं के मिटाने पर ही हम ईश्वर की इस कविता को पढ़ सकेंगे और उसका आनन्द ले सकेंगे। तब सर्वत्र ही हम परमात्मा को

देखेंगे। गली, कूचे, कोने, जिन्हें पहिले हम अपवित्र और इतने घृणास्पद समझते थे, अब ब्रह्म-मय दिखाई देंगे। उनकी वास्तविक प्रकृति हमें दिखाई पड़ेगी। हमारा रोना-गाना सब बच्चों का खिलवाड़ भर था, यह सोच कर हमें अपने ही ऊपर हँसी आवेगी। आदि शक्ति माता, हम सभी समय उपस्थित यह कौतुक देख रहे थे।

वेदान्त कहता है, इस प्रकार तुम काम करो। वह सिखाता है कि तुम त्याग करो, इस मिथ्या माया-संसार का त्याग करो। इसका अर्थ क्या है? जैसा कि पहिले कहा गया है, परमात्मा को प्रत्येक वस्तु में देखो। सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो, यदि चाहो, तो सभी सांसारिक सुखों को प्राप्त करो, केवल उनमें परमात्मा को देखो। सांसारिक से उन्हें स्वर्गीय बना लो और फिर सौ वर्ष तक जियो। संसार में सुख, आनन्द और क्रियाशीलता के दीर्घ जीवन की इच्छा करो। कर्म करने का यही मार्ग है, अन्य नहीं। सत्य के बिना जाने यदि कोई मिथ्या विलास-वासनाओं का दास बन जाता है, तो वह पथ-भ्रष्ट है, उसे पथ नहीं मिला। और इसी भाँति यदि कोई संसार को गालियाँ देता है, अपने आपको कष्ट देता है, वन में जाकर भूख से अपने शरीर को धीरे-धीरे नष्ट कर देता है, अपने हृदय को मरु-भूमि के समान बनाकर उसकी सारी भावनाओं को नष्ट कर देता है और इस प्रकार कठोर, भयानक और नीरस होजाता है, तो वह भी पथ-भ्रष्ट है, पथ उसे भी नहीं

मिला। यह दोनों चरम सीमाएँ हैं और दोनों ही ग़लत हैं। दोनों ही अपना लक्ष्य और पथ भूल गए हैं।

वेदान्त कहता है, इस प्रकार सब वस्तुओं में एक परमात्मा को जान कार्य करो। जीवन को ब्रह्म-मय और परमात्मा के समान ही जान निरन्तर कर्म करो। परमात्मा को सर्वव्यापी समझकर सभी इच्छायें और कार्य उसीके लिये करो। अन्यत्र उसे कहाँ पाओगे! प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक विचार में, प्रत्येक भावना में वही ब्रह्म है। इस प्रकार समझकर हमें कर्म करना चाहिए। इसे छोड़ कोई अन्य मार्ग नहीं। इस प्रकार हम कर्म-फल के बन्धनों से मुक्त हो जावेंगे, कर्म-दोषों से तुम्हें कुछ भी क्षति न होगी। हम देख चुके हैं कि हमारी मिथ्या इच्छायें और वासनायें ही हमारे दुःख और विपत्ति का कारण होती हैं, पर इस प्रकार ब्रह्म-मय होने से वे पवित्र हो जाती हैं और उनसे कोई दुःख व बुराई नहीं होती। इस रहस्य के बिना जाने लोगों को एक राक्षसी संसार में रहना पड़ेगा। मनुष्य नहीं जानते कि कितना सुख, शान्ति और आनन्द यहाँ है, उनमें है, उनके चारों तरफ़ है, सर्वत्र है। फिर भी उसका उन्हें ज्ञान नहीं। राक्षसी संसार क्या है? वेदान्त कहता है—अविद्या।

वेदान्त कहता है, सबसे बड़ी नदी के किनारे बैठे हुए हम प्यासे हैं। खाने के हमारे पास ढेर लगे हैं, फिर भी हम भूखे हैं। संसार आनन्द-मय है, हम उसे देख नहीं पाते। हम उसीमें हैं, सभी समय वह हमारे चारों ओर है फिर भी हम उसे पहचान

नहीं पाते। धर्म कहते हैं कि हम इस आनन्दमय संसार को तुम्हें दिखायेंगे। इसी आनन्द-मय संसार की खोज में ही सब लोग लगे हुए हैं। सभी जातियों ने इसकी खोज की है, धर्म का यही एकमात्र लक्ष्य है, भिन्न-भिन्न भाषाओं में इसी एक आदर्श का वर्णन है, धर्मों के पारस्परिक झगड़े कोरे वितण्डावाद हैं, जिनका कोई अर्थ नहीं। यह अन्तर केवल भाषा की भिन्नता के कारण है। कोई अपने विचार को किसी तरह प्रकट करता है, कोई किसी तरह से। शायद जो बात मैं अभी कह रहा हूँ, बिल्कुल वही बात आप दूसरी भाषा में कह सकते हैं। कीर्ति अथवा अधिकार पाने की इच्छा से मैं कहता हूँ—यह मेरा अपना मौलिक विचार है। हमारे जीवन में इसी प्रकार झगड़े उत्पन्न होते हैं।

इसी सम्बन्ध में फिर और भी प्रश्न उत्पन्न होते हैं, बातें बनाना तो सरल है। बचपन से ही मैंने परमात्मा को सर्वत्र देखने की बात सुन रक्खी है, जिससे सब वस्तुएँ पवित्र होकर सुख देनेवाली होती हैं; पर जैसे ही संसार में आकर मैं कुछ ठोकरें खाता हूँ, तो यह ज्ञान हवा हो जाता है। गली में जाता हुआ मैं सोचता हूँ कि परमात्मा सर्वत्र है कि वैसे ही एक अधिक बलवान पुरुष आकर मुझे धक्का देता है और मैं जमीन पर मुँह के बल गिर पड़ता हूँ। मैं जल्दी से उठता हूँ, मेरे दिमाग़ में ख़ून चढ़ जाता है, सब कुछ भूलकर मैं पागल हो जाता हूँ। ईश्वर के बदले मुझे शैतान दिखाई देने लगता है। जबसे हम

पैदा होते हैं, हमें सिखाया जाता है, परमात्मा को सर्वत्र देखो। सभी धर्म यह बात सिखाते हैं—परमात्मा को सब वस्तुओं में सर्वत्र देखो। क्या तुम्हें याद नहीं कि ईसा ने इसी बात को न्यू टेस्टामेंट में साफ़-साफ़ शब्दों में कहा है? हम सबने यही सीखा है, पर जब हम उसे कार्य-रूप में लाना चाहते हैं, तभी तो कठिनाई सामने आती है। आपको यूरोप की वह कहानी याद होगी, जिसमें एक बारहसिंगा एक सरोवर में अपना प्रतिबिम्ब देखकर अपने बच्चे से कहता है—"मैं कितना बलवान् हूँ! मेरे सुन्दर सिर को देखो। मेरी पेशियाँ कितनी मांसल और मजबूत हैं। मैं कितना तेज भाग सकता हूँ।" कि इतने में कुत्तों के भूँकने का शब्द सुनाई पड़ता है और बारहसिंगा तुरन्त दुम दबाकर भाग खड़ा होता है। कई मील दौड़ने के बाद जब वह दम लेता है, तो बच्चा कहता है—तुमने अभी तो मुझसे कहा था कि तुम बड़े बलवान् हो, फिर कुत्तों के भूँकते ही क्यों भाग खड़े हुए?" उसने कहा—"यही तो, मेरे बच्चे! जब कुत्ते भूँकते हैं, तो सारे होश हवा हो जाते हैं।" यही हाल हमारा भी है। बेचारी मनुष्य-जाति का हमें बड़ा ध्यान रहता है, पर जैसे ही कोई कुत्ता भूँकता है, हम पागल बारहसिंगे की भाँति भाग खड़े होते हैं। यदि अन्त में यही होना है, तो सभी शिक्षाओं और उपदेशों का फल ही क्या हुआ? उनका बड़ा फल है, पर सब कुछ एक ही दिन में तो नहीं हो सकता। "पहले आत्मा की बात सुनना चाहिए, फिर उसका

ध्यान और चिन्तन करना चाहिए।" सभी जन आकाश को देख सकते हैं, पृथ्वी पर रेंगता हुआ कीड़ा भी उसे देख सकता है, पर वह है कितनी दूर ! मन तो सब कहीं चला जाता है, पर इस शरीर को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में बड़ा समय लगता है। यही दशा हमारे आदर्शों की भी है। वे बहुत ऊँचे हैं, और बहुत नीचे, पर हम यह जानते हैं कि हमारे आदर्श अवश्य होने चाहिए। और हमें ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श रखने चाहिये। हम यह भी जानते हैं कि अभाग्य-वश संसार के अधिकांश लोग बिना किसी आदर्श के अँधेरे में भटकते फिरते हैं। यदि एक आदर्शवाला हज़ार ग़लतियाँ करता है, तो मुझे विश्वास है कि बिना आदर्शवाला उससे पचास गुनी करेगा। इसलिए अपने सामने एक आदर्श अवश्य रखना चाहिए। इस आदर्श का ही वर्णन हमें जितना हो सके सुनना चाहिए जब तक कि वह हमारे हृदय में न समा जावे, हमारे मस्तिष्क में न भर जावे, हमारे रक्त के साथ ही न बहने लगे, हमारी नस-नस में ही जब तक उस प्रकार के विचार न भिद जावें। हमें उसे अवश्य सुनना चाहिए। "हृदय जब भावनाओं से भर जाता है, तो मुँह बोलता है।" और हृदय के भावनाओं से भर जाने पर हाथ भी काम के लिए उठते हैं।

विचार ही हमें कार्य के लिए प्रेरित करते हैं। हृदय को उच्च-से-उच्च विचारों से भर लो, दिन-प्रति-दिन उन्हीं की बातें सुनो, सदा उन्हीं का ध्यान करो। असफलता की चिन्ता न करो।

असफलतायें बिलकुल स्वाभाविक हैं, वे जीवन को सुन्दर बनाती हैं। इन असफलताओं के बिना भी जीवन क्या होगा? संग्राम के बिना जीवन रहने योग्य न होगा। जीवन का कवित्व ही नष्ट हो जावेगा। संग्राम की असफलताओं की चिन्ता न करो। मैंने गाय को कभी झूठ बोलते नहीं सुना, फिर भी वह गाय ही है—मनुष्य नहीं। इसलिए असफलताओं की छोटी-भूलों की फ़िक्र न करो। अपने आदर्श का हजार बार ध्यान करो और यदि हजार बार तुम असफल होते हो, तो एक बार फिर प्रयत्न करो। मनुष्य का आदर्श है कि वह परमात्मा को सर्वत्र देखे। यदि तुम उसे सभी वस्तुओं में नहीं देख सकते, तो पहले उसी में देखो, जो तुम्हें सबसे अधिक प्यारी है फिर दूसरी में। इस प्रकार आगे बढ़ते चलो। आत्मा के लिए जीवन अपार है। इच्छानुसार समय खर्च करो, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी।

"वही एक जो मन से भी चंचल है, जिसकी गति मन से कहीं अधिक तीव्र है, मनुष्य का विचार जिसकी कल्पना नहीं कर सकता, देवता भी जिसे पा नहीं सकते, वही सब ब्रह्माण्ड का सञ्चालन करता हुआ स्वयं चलता है। वह स्थिर भी है। यह सब उसी में स्थित है। वह स्थिर भी है और अस्थिर भी। वह निकट भी है, दूर भी। सभी वस्तुओं में वह है। सभी वस्तुओं का बाहरी रूप भी वही है, जिससे हम उन्हें पहचानते हैं। जोकि उस आत्मा को सभी वस्तुओं में देखता है और सभी वस्तुओं को आत्मा में देखता है, वह आत्मा से कभी दूर नहीं होता।

जब प्राणी सारी जीव-प्रकृति और ब्रह्माण्ड को उसी आत्मा में देखने लगा, तो उसे रहस्य का ज्ञान हो गया। उसके लिए फिर कोई माया नहीं। जिसने विश्व की एकता को पहचान लिया, उसके लिए दुःख कहाँ ?"

सब वस्तुओं और जीवन की एकता वेदान्त का दूसरा विशेष सिद्धान्त है। वेदान्त ने बतलाया है कि हमारा सारा दुःख अविद्या के कारण है। अज्ञान वस्तुओं को भिन्न-भिन्न समझता है। मनुष्य मनुष्य से, बच्चा स्त्री से, जाति जाति से, पृथ्वी चन्द्रमा से और चन्द्रमा सूर्य से, यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड का एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न समझा जाता है और यही भिन्नता का ज्ञान हमारे सारे दुःख का कारण है। वेदान्त कहता है, यह भिन्नता कहीं नहीं है, यह वास्तविक नहीं, केवल ऊपर दिखाई देती है। वस्तुओं में आन्तरिक एकता है। यदि भीतर दृष्टि डालो, तो मनुष्य मनुष्य, स्त्री बच्चे, जातियाँ, ऊँच नीच, ग़रीब और अमीर, देवता और मनुष्य सब एक हैं और यदि अधिक गम्भीर विचार करो, तो पशु भी उन्हींके साथ एक हैं। जिसे इस बात का ज्ञान है उसके लिये माया नहीं। उसने उस एकता को पा लिया है जिसे हम धर्म की भाषा में परमात्मा कहते हैं। उसके लिये माया कहाँ ? उसे कौन मोह सकता है ? उसने सब वस्तुओं की एकता को, उनके रहस्य को पहचान लिया है। जब उसको इच्छायें ही नहीं, तो उसे दुःख कहाँ से होगा ? संसार की वास्तविकता को उसने ईश्वर-मय जान लिया है, जो कि सभी वस्तुओं की

एकता है, चिदानन्द, अनन्त ज्ञान और अमर जीवन है। उसमें दुख, रोग, शोक, भय, मृत्यु, असन्तोष कुछ भी नहीं है। वह पूर्ण एकता और पूर्ण आनन्द है। हम किसके लिये फिर दुःख करें। वास्तव में न तो मृत्यु है, न दुख है, न हमें किसी के लिये दुखी होना है, न शोक करना है। वह पवित्र परमात्मा, निर्गुण, निःशरीर, ब्रह्माण्ड का असर, कवि, स्वयंभू और स्वयंजीवी, जो सबको कर्मानुसार फल देता है, वही सबमें व्याप्त है। वे अँधेरे में भटकते हैं, जो इस अज्ञानी और अविद्या-जनित संसार की उपासना करते हैं। जो इस संसार को सत्य जान उसे पूजते हैं, वे अँधेरे में हैं तथा जो अपना सारा जीवन इस संसार में व्यतीत कर समझते हैं कि इससे अधिक सुन्दर और उच्च कुछ भी नहीं, वे और भी अधिक अँधेरे में हैं। पर जो इस सुन्दर प्रकृति के रहस्य को जान चुका है, वह प्रकृति की सहायता से सत्य प्रकृति का ध्यान करता हुआ मृत्यु के परे हो जाता है और सत्य प्रकृति की सहायता से चिदानन्द को पाता है।" हे सूर्य, तूने अपने सुनहले थाल से सत्य को ढाँप लिया है। उसे तू हटा दे, जिससे मैं सत्य को देख सकूँ। तेरे भीतर जो सत्य है, उसे मैंने जान लिया है, तेरी सहस्र-सहस्र रश्मियों और उद्दीप्त कान्ति का अर्थ मैंने समझ लिया है। जिससे तू प्रकाशमान है, उसे मैं देख रहा हूँ। तेरे सत्य को मैं देख रहा हूँ। जो तुझ में है, वह मुझ में भी है और जो मुझमें है वह तुझ में है।"

---

# भक्ति या प्रेम.

दो एक धर्मों को छोड़ सभी धर्मों में एक व्यक्तिगत परमेश्वर का निरूपण है। बुद्ध और जैन धर्मों के सिवाय प्रायः संसार के सभी धर्मों ने एक परमेश्वर को माना है और उसीके साथ भक्ति व उपासना का भी विचार उत्पन्न हुआ है। बुद्ध और जैन, इन दोनों धर्मों में यद्यपि एक व्यक्तिगत ईश्वर की उपासना नहीं ; पर वे अपने धर्म-प्रवर्त्तकों को ठीक उसी भाँति मानते और पूजते हैं, जिस प्रकार अन्य धर्म एक व्यक्तिगत ईश्वर को। उसकी प्रार्थना और उपासना का विचार, जिससे हम प्रेम कर सकते हैं और जो हमारे प्रेम का प्रतिदान दे सकता है, सार्वभौमिक है। यही प्रेम और उपासना का विचार भिन्न-भिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न मात्रा और रूप में प्रकट होता है। इस उपासना की पहली सीढ़ी मूर्त्तिपूजा है, जबकि मनुष्य भौतिक वस्तुओं को चाहता है, जबकि उसके लिए विचार-मात्र की कल्पना करना असम्भव होता है और जब वह उन्हें सबसे नीची सतह पर खींचकर कोई-न-कोई भौतिक रूप दे ही देता है। उपासना के निराले ढंग और उनके साथ मूर्वियों ( संज्ञाओं ) का भी जन्म होता है। संसार के इतिहास में हम यही बात देखते हैं कि

मनुष्य निर्गुण को इन्हीं संज्ञाओं और मूर्तियों-द्वारा ग्रहण करना चाहता है। धर्म के बाहरी स्वरूप, घण्टे, ज्ञान, बाद्य, उपासना के निराले ढंग, पुस्तकें और मूर्तियाँ—सब उसीके लिए हैं। कोई भी वस्तु जो कि मनुष्य की इन्द्रियों को सत्य प्रतीत होती है तथा जिससे वह सगुण में निर्गुण की कल्पना कर सकता है, तुरन्त पकड़ ली जाती है और मनुष्य उसकी उपासना करने लगता है।

सभी धर्मों में समय-समय पर सुधारक हुए हैं जो सभी संज्ञाओं और रूढ़ियों के विरुद्ध खड़े हुए हैं; पर उनके सारे प्रयत्न निष्फल हुए हैं; क्योंकि हम देखते हैं कि जब तक मनुष्य जैसा कि आज है, वैसा रहेगा, तब तक मनुष्य-जाति का अधिकांश भाग एक ऐसे साकार पदार्थ की चाहना करेगा, जिसके चारो ओर वह अपने विचारों को एकत्रित कर सके और जो उसके विचारों का केन्द्र हो। मुसलमानों, ईसाइयों और प्रोटेस्टेण्टों ने इन्हीं रूढ़ियों के नष्ट करने के लिए भीष्म प्रयत्न किये हैं; फिर भी हम देखते हैं कि उनमें भी रूढ़ियाँ आ ही गई हैं। उपासना की भौतिक रीतियों का हम बहिष्कार कर नहीं सकते। बहुत दिनों के संघर्ष के अनन्तर लोग एक संज्ञा के लिए दूसरी संज्ञा ढूँढ़ लेते हैं। मुसलमान जो सोचता है कि काफ़िरों की साकार उपासना, मूर्ति-पूजा आदि पाप है, जब काबे में जाता है, तो इसी बात को भूल जाता है। प्रत्येक धार्मिक मुसलमान को प्रार्थना करते समय अपने आपको काबे में खड़ा हुआ सोचना

होता है और जब यात्रा कर वह वहाँ पहुँचता है, तो दीवाल में जड़े हुए एक काले पत्थर को चूमना होता है। लाखों, करोड़ों यात्रियों के उस पत्थर पर किए गए चुम्बन-चिन्ह प्रलय के बाद जब सब का न्याय होगा, उनकी धार्मिकता के साक्षी होंगे। इसके बाद वहाँ झिम-झिम का कुँआ है। मुसलमानों का विश्वास है कि जो कोई भी उस कुएँ से थोड़ा-सा भी पानी खींचता है, उसके पाप क्षमा किए जाँयगे तथा प्रलय के बाद वह एक नवीन शरीर पाकर सदा के लिए अमर हो कर रहेगा।

अन्य धर्मों में हम देखते हैं कि इन संज्ञाओं ने गिर्जा व मन्दिरों का रूप धारण किया है। ईसाइयों के लिए गिर्जा अन्य स्थानों से पवित्र है। गिर्जा एक संज्ञा है। अथवा उनकी धर्म-पुस्तक बाइबिल को ही लीजिए। धर्म-पुस्तक उनके लिए अन्य सभी संज्ञाओं से अधिक पवित्र है। जैसे प्रोटेस्टेण्टों के लिए क्रॉस है, वैसे ही रोमन कैथलिकों के लिए उन महात्माओं की मूर्तियाँ हैं, जो अपने धर्म पर बलि हुए है। संज्ञाओं के विरुद्ध उपदेश देना व्यर्थ है और उपदेश दिया ही क्यों जावे? इसका कोई भी कारण नहीं कि मनुष्य साकार संज्ञाओं की उपासना न करे। जिस बात की वे संज्ञा हैं, उसीके लिए तो उनकी उपासना की जाती है। यह संसार ही एक संज्ञा है, जिसके पीछे छिपे हुए और उससे परे सत्य को पाने की हम चेष्टा करते हैं। मनुष्य का यह नीचे दर्जे का मस्तिष्क है और इसीलिए हम इन संज्ञाओं से अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते। पर इसके साथ ही यह भी सच है कि हम

भौतिक संज्ञा से परे निर्गुण सत्य के पाने की चेष्टा कर रहे हैं। लक्ष्य निर्गुण है न कि सगुण। रूढ़ियाँ, मूर्त्तियाँ, घण्टे, आरती, पुस्तकें, गिर्जे, मन्दिर व सभी पवित्र संज्ञाएँ सुन्दर हैं; क्योंकि आत्मिकता के बढ़ते हुए पौधे की वे सहायता करती हैं; पर इससे अधिक नहीं सौ में निन्यानवे बार यही देखा जाता है कि आत्मिकता का पौधा बढ़ता ही नहीं। एक गिर्जे में पैदा होना अच्छा है; पर उसी में मर जाना बहुत ही खराब है। किन्हीं नियमित धार्मिक रूढ़ियों के भीतर उत्पन्न होना अच्छा है; क्योंकि वे आत्मिकता के पौधे को बढ़ने में सहायता देती हैं; पर यदि मनुष्य उन्हीं की सीमाओं के भीतर ही मर जाता है, तो इससे यही सिद्ध होता है कि उसने कोई आत्मिक उन्नति नहीं की।

इसलिए यदि कोई कहता है कि संज्ञाएँ रूढ़ियाँ तथा उपासना की भिन्न-भिन्न रीतियाँ सदा ही रहनी चाहिए, तो वह झूठ कहता है; पर यदि वह कहता है कि वे आत्मा की जब कि वह प्रथम और अधम अवस्था में होती है, उन्नति में सहायता देती है, तो सच कहता है। इसीके साथ यह भी समझना चहिए कि इस आत्मिक उन्नति से मस्तिष्क की उन्नति का कोई सम्बन्ध नहीं। मस्तिष्क को लेकर चाहे कोई देव ही क्यों न हो; पर आत्मज्ञान के लिए वह एक बच्चा अथवा उससे भी तुच्छ हो सकता है। इसकी जाँच तो अभी हो सकती है। आप सभी ने एक सर्व-व्यापी परमात्मा की उपासना करना सीखा है; पर उसकी तनिक कल्पना तो कीजिए। आपमें से कितने ऐसे होंगे, जो उस सर्व-

व्यापकता की कल्पना कर सकते हैं ? बहुत ज़ोर लगाने पर, यदि देखा है, तो समुद्र की अथवा आकाश की, अथवा बड़े भारी हरे भरे मैदान की, अथवा एक रेगिस्तान की, यदि उसे देखा है, तो कल्पना कर सकते हैं ; पर यह सब तो भौतिक पदार्थ हैं। जब तक आप निर्गुण का निर्गुण के ही समान तथा आदर्श की आदर्श के ही समान ही कल्पना नहीं कर सकते, तब तक आपको इन्हीं संज्ञाओं, मूर्तियों व रूढ़ियों का आश्रय लेना पड़ेगा ; चाहे मस्तिष्क में हो चाहे प्रत्यक्ष बाहर हो। आप सभी मूर्ति-पूजक उत्पन्न हुए हैं और मूर्ति-पूजा अच्छी है ; क्योंकि वह मनुष्य-प्रकृति में ही है। इसे कौन छोड़ सकता है ? केवल संपूर्ण मनुष्य जो कि परमात्मामय हो गया है। अन्य सभी मूर्ति-पूजक हैं। जब तक आप इस संसार को उसके नाना रूप और प्रतिरूपों के साथ देखते हैं, तब तक आप सभी मूर्ति-पूजक हैं। क्या आपके मस्तिष्क में रूप उत्पन्न होते हैं। आपके मस्तिष्क में थोड़ी सी सनसनी भरही होती है। इस ब्रह्माण्ड की जो कि एक विशाल संज्ञा है, आप उसके रूप, रङ्ग और आकार-प्रकार के साथ क्यों कल्पना करते हैं। यह एक बड़ी ही विशाल मूर्ति है, जिसकी आप उपासना करते हैं। जो कोई अपने शरीर को कहता है कि यह मैं हूँ, पक्का मूर्ति-पूजक है। आप सभी आत्मा हैं, जिसके न रूप है, न आकार-प्रकार है, जो कि अनन्त है तथा जिसे भौतिकता छू नहीं गई। इसलिए जो कोई अपने आपको यह शरीर वा भौतिक मानता है तथा बिना सगुण प्रकृति के निर्गुण की, जैसा कि वह है, उसकी

कल्पना नहीं कर सकता, मूर्ति-पूजक है। फिर भी कैसे लोग एक दूसरे को मूर्ति-पूजक कहकर लड़ने लगते हैं अर्थात् प्रत्येक कहता है कि मेरी मूर्ति सच्ची है, तेरी झूठी।

अतएव इन बच्चों के से सारहीन विचारों को हमें छोड़ देना चाहिए। उन लोगों की बकबक-झकझक से परे हो जाना चाहिए, जिनके लिए धर्म केवल जोशीले शब्दों का समूह है, जिनके लिए धर्म एक विशेष प्रकार के सिद्धान्त भर हैं, जिनके लिए धर्म कोरी मानसिक आस्तिकता वा नास्तिकता है, जिनके लिये धर्म उन शब्दों में विश्वास करना है, जिन्हें उनके गुरु ने उनके कान में कह दिया है, जिनके लिये धर्म वही है, जिसमें उनके बाप-दादों ने विश्वास किया था तथा जिनके लिये धर्म एक विशेष प्रकार के अन्ध-विश्वास और विचार हैं, जिनमें वे इसलिये विश्वास करते हैं कि वे जातीय हैं। मनुष्य-जाति को हमें एक विशाल प्राणी के समान समझना चाहिए, जो धीरे-धीरे सत्य-ज्ञान की ओर अग्रसर हो रहा है। यह सुन्दर कमल उस अमर सत्य परमात्मा की किरणों का स्पर्श कर विकसित हो रहा है। और इस सत्य-ज्ञान की ओर बढ़ने के लिये सदैव हमें पहिले इन्हीं रूढ़ियों तथा भौतिक प्रकृति का आश्रय लेना पड़ेगा। इनसे हम बच नहीं सकते।

उपासना की भिन्न-भिन्न प्रथाओं के भीतर एक विचार सर्वतोमुखी है—नाम की उपासना। आप लोगों में से जिन्होंने पुराने ईसाई धर्म व अन्य प्राचीन धर्मों का अध्ययन किया है,

उन्होंने इस बात पर अवश्य ध्यान दिया होगा कि उन सभी में इस 'नाम' की उपासना का विचित्र विचार स्थित है। नाम बहुत ही पवित्र कहा गया है। "परमात्मा के नाम में" आप लोगों ने पढ़ा होगा कि हीब्रू लोगों में ईश्वर का नाम इतना पवित्र माना जाता था कि साधारण मनुष्यों के लिये उसका उच्चारण करना मना था। वह बहुत ही पवित्र था, पवित्र से भी कहीं अधिक पवित्र था। सभी नामों में वह पवित्रतम था तथा हीब्रू लोग समझते थे कि यह नाम ही परमात्मा है। यह भी सत्य ही था; क्योंकि यह ब्रह्माण्ड नाम और आकार के सिवा है ही क्या? क्या आप शब्दों के बिना विचार कर सकते हैं? शब्द और विचार अलग नहीं हो सकते। यदि हो सकते हों, तो तनिक प्रयत्न करके देखिये। जब कभी भी आप विचार करते हैं, तो शब्दों द्वारा। शब्द अन्तर्भाग है, विचार बाहरी। उन्हें एक साथ ही रहना चाहिये। वे जुदा नहीं हो सकते। एक के साथ दूसरा आता है, शब्द के साथ विचार, विचार के साथ शब्द। इसी प्रकार यह विश्व एक बाह्य संज्ञा है, जिसके पीछे छिपा हुआ दृढ़ सत्य परमेश्वर है। प्रत्येक पदार्थ का आकार और नाम होता है। जैसे तुम अपने किसी मित्र का स्मरण करते हो, तो उसके शरीर का स्मरण हो आता है और शरीर की याद आते ही उसके नाम की भी याद आजाती है। मनुष्य की विचार-प्रकृति ही ऐसी है। तात्पर्य यह कि मनुष्य का मस्तिष्क ऐसा है कि बिना आकार के नाम का व बिना नाम के आकार का स्मरण

नहीं हो सकता। दोनों ही अलग नहीं किये जा सकते। एक शरीर है, तो दूसरा आत्मा। इसीलिये संसार में नामों की इतनी महिमा हुई है और वे पूजे गये हैं। जाने अथवा बेजाने मनुष्य ने नाम के महत्व को जान अवश्य लिया है।

हम यह भी देखते हैं कि बहुत से धर्मों में किन्हीं पवित्र पुरुषों की उपासना की जाती है। लोग कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि को पूजते हैं। कहीं-कहीं महात्माओं की पूजा की जाती है। सैकड़ों ही संसार में पूजे गए हैं। और क्यों न पूजे जाँय? प्रकाश की धारा सर्वत्र बहती है। उल्लू उसे अँधेरे में देखता है जिससे मालूम होता है कि वह अँधेरे में भी है। मनुष्य उसे वहाँ नहीं देख सकता। मनुष्य के लिए वह प्रकाश की धारा केवल दीपक में या सूर्य-चन्द्र में है। परमात्मा सर्व-व्यापी है, वह सभी पदार्थों में प्रकट होता है; पर मनुष्य को वह मनुष्य में ही दिखाई देता है। जब उसकी ज्योति, उसकी सत्ता, उसकी आत्मा, मनुष्य के स्वर्गीय मुख पर झलकती है, तभी वह उसे पहचान पाता है। इस भाँति मनुष्य में परमात्मा को जानकर मनुष्य ने उसकी उपासना की है और जब तक वह मनुष्य है तब तक वह इसी प्रकार करता रहेगा। इसके विरुद्ध वह चाहे जितना रोये, चिल्लाये और हाथ-पैर पटके; पर जब भी वह परमात्मा की कल्पना करेगा, अपने मनुष्य होने के कारण उसे परमात्मा की मनुष्य के समान ही कल्पना करनी पड़ेगी। अतः सभी धर्मों की ईश्वरोपासना में तीन बातें मुख्य हैं—

संज्ञायें या मूर्तियाँ; नाम; महात्मा। सभी में इनकी उपासना की जाती है, पर एक दूसरे से लड़ने के लिए वे कैसे तैयार हो जाते हैं। एक कहता है—"मेरा नाम, मेरी मूर्तियाँ, मेरे महात्मा सच्चे हैं, तुम्हारे कपोल-कल्पित और झूठे हैं।" ईसाई पादरी आज-कल कुछ अधिक दयालु हो गए हैं, इसलिए कहते हैं कि अन्य धर्म भावी धर्म के सूचना-चिह्न भर थे। पूरा धर्म तो उनका ईसाई धर्म है। परमात्मा मानों पहिले अपना जोर आज़मा रहा था, अपनी शक्तियों की परीक्षा कर रहा था, जिनसे अन्य धर्म बने। सारी शक्ति तो उसने ईसाई धर्म बनाने में लगाई! फिर भी ख़ैर है। पचास वर्ष पहिले तो वे यह भी न कहते। उन्हींका धर्म सब कुछ था और सब मिट्टी थे; पर यह विचार किसी धर्म, जाति या जन-समुदाय विशेष में ही परिमित नहीं; लोग यही सोचते हैं कि करना वही चाहिये, जो हम ख़ुद कर रहे हैं। यहीं पर भिन्न-भिन्न धर्मों के अध्ययन से हमें सहायता मिलती है। इससे हमें यह विदित हो जाता है कि जिन विचारों को हम अपना-अपना कहकर पुकार रहे थे, वे शताब्दियों पहिले दूसरे धर्मों में विद्यमान थे और कभी-कभी तो कहीं अधिक सुन्दर रूप में।

उपासना के यह बाहरी स्वरूप हैं। मनुष्य को इनका सामना करना पड़ता है; पर यदि वह सच्चा है और सत्य की उसे वास्तविक चाह है, तो वह इनसे परे हो जाता है। तब इनका कोई मूल्य नहीं रहता। उपासना की रीतियाँ तो बच्चों के अ, आ, इ, ई, सीखने की पाटी भर हैं। मन्दिर और गिर्जे, पुस्तकें

और मूर्तियाँ, बच्चों के खेलने की वस्तुएँ हैं। यदि मनुष्य को धर्म की चाहना है, तो उसे पहिले इन सीढ़ियों पर चढ़ना होगा। इसके अनन्तर वह और भी ऊँचे जा सकेगा। परमात्मा के लिये इस चाह, इस प्यास से ही सच्ची भक्ति, सच्चे प्रेम का जन्म होता है। प्रश्न यह है कि चाह किसे है? धर्म, सिद्धान्त, अन्ध-विश्वास वा मानसिक तर्क-वितर्क कुछ नहीं है। धर्म का अर्थ कुछ हो जाना है, धर्म अनुभूति है। हम हर एक को आत्मा, परमात्मा और संसार के रहस्यों के बारे में बात-चीत करते सुनते हैं; पर यदि एक-एक करके उनसे पूछो कि क्या तुमने ईश्वर का अनुभव किया है? अपनी आत्मा को देखा है? तो कितने ऐसे होंगे, जो कहेंगे—हाँ, हमने देखा है, हमने अनुभव किया है। फिर भी वे सब आपस में लड़े मरे जाते हैं। मुझे याद आता है कि भारत-वर्ष में एक बार भिन्न-भिन्न धर्म-उपधर्मों के प्रतिनिधि एकत्रित हुए और परस्पर वाद-विवाद करने लगे। एक ने कहा—शिव ही सच्चा ईश्वर है। दूसरे ने कहा—सच्चा ईश्वर तो विष्णु है इत्यादि। उनके वाद-विवाद का कोई अन्त न था कि उधर से एक महात्मा निकले। लोगों ने विवाद में भाग लेने के लिए उन्हें भी बुला लिया। वह वहाँ गए और जो शिव को सबसे बड़ा देवता बता रहा था, उससे पहिला प्रश्न यही किया—"क्या तुमने शिव को देखा है? उससे जान पहँचान की है? यदि नहीं, तो कैसे कहते हो कि शिव ही सबसे बड़ा देवता है?" दूसरे से भी उन्होंने वैसा ही प्रश्न किया—"क्या तुमने विष्णु को देखा है?" सब

से इसी भाँति प्रश्न पूछने पर पता चला कि एक को भी परमेश्वर के बारे में अकिञ्चिद् ज्ञान नहीं है और उनके लड़ने-झगड़ने का यही तो असली कारण था। यदि उन्हें सच्ची बात का पता होता, तो वे लड़ते ही क्यों ? घड़ा जब भरा जाता है, तभी उसमें शब्द होता है और जब भर जाता है, तब तो शान्त और गम्भीर हो जाता है। तब तो, उसने सत्य को जान लिया है। अतः धर्म-उपधर्मों के लड़ाई-झगड़े से तो यही सिद्ध होता है कि वे धर्म के बारे में कुछ नहीं जानते। धर्म उनके लिए पुस्तकों में लिखे हुए जोशीले शब्द भर हैं। जिसे देखो वही जिससे पाया उसी से, बिना कहे-सुने उधार लेकर एक बड़ी-से-बड़ी पुस्तक लिखने के लिये तैयार होजाता है और फिर संसार में जहाँ कि सहस्रों लड़ाई-झगड़े प्रथम से ही वर्तमान हैं, वह अपने इस गोले को भी फेंक देता है।

संसार के अधिकांश मनुष्य नास्तिक हैं। पश्चिम के नये भौतिकवादी नास्तिकों को देखकर मुझे हर्ष होता है ; क्योंकि वे सच्चे तो होते हैं। वे इन पाखण्डी धार्मिक नास्तिकों से तो अच्छे होते हैं, जो धर्म के बारे में भीषण वितण्डावाद करते हैं, बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ते हैं, पर उसकी कभी सच्ची चाह नहीं करते, न उसे अनुभव करने की चेष्टा करते हैं, न उसे समझने का प्रयत्न ही करते हैं। ईसा के उन शब्दों का स्मरण करो—"माँगो, तुम पाओगे ; ढूँढ़ो, तुम्हें मिलेगा ; जंजीर खटखटाओ और दरवाजा खुलेगा।" वे शब्द अक्षरशः सत्य थे, कोरी गप्पें नहीं।

इस संसार में आनेवाले परमात्मा के सबसे बड़े बच्चों में से एक के हृदय-रक्त में रँगे हुए वे शब्द थे। पुस्तकों की नहीं वरन् वे एक ऐसे मनुष्य की उपज थे, जिसने साक्षात् ईश्वर का अनुभव किया था, उससे बात-चीत की थी तथा जैसे हम इस विशाल भवन में हैं, उससे सौगुने आवेग के साथ वह अपने ईश्वर के साथ रहा था। सवाल तो यही है कि ईश्वर की चाह किसे है? क्या तुम जानते हो कि संसार के इतने लोगों को ईश्वर की चाह है और वह उन्हें मिलता नहीं है? ऐसा तो हो नहीं सकता। विना वस्तु के इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है? क्या तुमने कभी देखा है कि मनुष्य साँस लेना चाहे और बाहर हवा न हो? क्या तुमने कभी यह सुना है कि किसी को भूख लगी हो और कहीं पर खाना न हो? इच्छाओं को कौन उत्पन्न करता है? बाहरी वस्तुएँ ही तो। प्रकाश से ही आँखें बनी हैं, शब्द से कान। इस प्रकार मनुष्य की प्रत्येक इच्छा को कोई बाहरी पदार्थ, जो वहाँ पहिले से ही था, जन्म देता है और यह संपूर्णता प्राप्त करने की, लक्ष्य पर पहुँचने की तथा भौतिक प्रकृति के परे जाने की इच्छा हमारे भीतर कैसे उत्पन्न होती, यदि किसी अपार्थिव शक्ति ने ही उसे हमारी आत्मा में जन्म दे व पोषित कर इतनी बलवती न बनाया होता? इसलिये जिसके हृदय में यह इच्छा जाग चुकी है, वह अवश्य लक्ष्य पर पहुँचेगा; पर चाह किसे है? हमें ईश्वर को छोड़ सभी वस्तुओं की चाह है। जो, आप अपने चारों ओर देखते हैं, वह धर्म कदापि नहीं है।

हमारी मेम साहब के पास दूर-दूर देशों के गृह-शोभा बढ़ानेवाले भाँति-भाँति के सामान हैं; पर आज-कल का फ़ैशन तो कोई जापानी चीज रखने का भी है इसलिये उन्होंने एक जापानी बर्तन खरीदकर उसे भी कमरे में एक ओर रख लिया है। दुनियाँ के अधिकांश लोगों के लिये यह फ़ैशन ही धर्म है। सुख की सभी सामग्रियाँ उन्हें चाहिये और चूँकि धर्म के बिना जीवन कुछ अधूरा सा रहता है और लोग निन्दा भी करने लगते हैं, इसलिये थोड़ा सा धर्म भी चाहिये। समाज में आलोचना होती है; अतः साहब और मेमसाहब थोड़ा सा धर्म भी संग रखते हैं। धर्म की यही वर्तमान दशा है।

एक शिष्य अपने गुरू के पास गया और बोला—"गुरूजी, मुझे धर्म चाहिए।" गुरूजी ने शिष्य की ओर देखा और कुछ न बोले। केवल थोड़ा सा मुस्करा दिये। शिष्य प्रतिदिन आता और इसी बात का हठ करता कि मुझे धर्म चाहिए; पर वृद्ध पुरुष उस नवयुवक से अधिक जानकार थे। एक दिन जब बहुत गर्मी पड़ रही थी, वह उस नवयुवक को नदी में स्नान कराने के लिए लिवा ले गए। नदी में पहिले नवयुवक ने ग़ोता लगाया, इसके पश्चात् वृद्ध पुरुष ने ग़ोता लगाकर उसे बलपूर्वक पानी के नीचे दाब रक्खा। जब वह थोड़ी देर व्यर्थ ही चेष्टा कर चुका, तो उन्होंने उसे छोड़ दिया और जब बाहर आया, तो उससे बोले—"पानी के भीतर तुम्हें किस वस्तु की सबसे अधिक चाह थी?" शिष्य ने उत्तर दिया—"साँस लेने की।" क्या परमेश्वर की भी आपको

उसी भाँति चाह है ? यदि है, तो आप उसे एक क्षण में पा जायँगे। आप अपनी पुस्तकों को, मस्तिष्क को और मूर्तियों को लिये हुए चाहे जितना सर पटकिये ; पर जब तक आपके हृदय में वह प्यास, वह इच्छा, नहीं है, तब तक आप परमेश्वर को नहीं पा सकते। आप तब तक निरे नास्तिक हैं, अन्तर केवल इतना है कि वह सच्चा है और आप नहीं हैं।

एक बड़े महात्मा कहा करते थे—मानों एक कोठरी में एक चोर है और दीवाल के उस पर दूसरी कोठरी में बहुत सा धन रक्खा हुआ है, तो उस चोर की क्या दशा होगी ? उसे नींद, भूख, प्यास, कुछ न लगेगी। उसका हृदय उसी धन पर धरा रहेगा। वह यही सोचेगा कि किस प्रकार इस दीवाल में सेंध कर उस पार जाऊँ और वह धन प्राप्त करूँ। यदि मनुष्यों को विश्वास होता कि सुख, सौन्दर्य और शान्ति उनके चारों ओर भरा पड़ा है, तो क्या वे अपने साधारण कामों में लगे रहते और परमेश्वर को पाने की चेष्टा न करते ?" जैसे ही किसी को यह विश्वास हो जाता है कि परमेश्वर है, तो वह उसे पाने के लिए आकुल हो उठता है और लोग चाहे जो करें पर जैसे ही किसी पुरुष को विश्वास हो जाता है कि इस पार्थिव जीवन से बढ़कर कोई ऊँचा जीवन है, इन्द्रियों का जीवन परिमित है तथा यह भौतिक शरीर उस अमर, अनन्त आत्मा के सौन्दर्य के आगे तुच्छ है, वैसे ही वह उस सौन्दर्य को स्वयं प्राप्त करने की लालसा से पागल हो उठता है और यही पागलपन, यही पिपासा, यही

अभिलाषा धार्मिक जागृति है। जब मनुष्य इस प्रकार से जागता है, तभी वह धार्मिक होता है; पर इसके लिए बहुत समय चाहिए। उपासना की नाना रीतियाँ—उत्सव, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत, पुस्तकें, घण्टे, आरती, पुजारी आदि सभी उस विशाल जागृति की तैयारियाँ हैं। वे आत्मा के ऊपर चढ़े हुए कालुष्य को दूर कर देती हैं। आत्मा जब पवित्र हो जाती है, तो वह स्वभावतः पवित्रता की खान परमात्मा से मिलना चाहती है। जैसे कि शताब्दियों की मिट्टी-धूलि से भरा हुआ लोहा अपने पास पड़े हुए चुंबक पत्थर से आकर्षित नहीं होता; पर जैसे ही किसी प्रकार उसका मल दूर हो जाता है, तो झट उसीसे मिल जाता है, उसी प्रकार यह हमारी आत्मा सहस्रों वर्षों की अपवित्रता, बुराई और पाप कर्मों में लिपटी हुई, लक्ष-लक्ष जन्म-जन्मान्तरों के पश्चात् इन्हीं रीतियों और रूढ़ियों से, परोपकार करने से, दूसरों का प्यार करने से पवित्र हो जाती है और तब उसकी स्वाभाविक आकर्षण-शक्ति उसमें लौट आती है, फलतः वह जाग उठती है और परमात्मा से मिलने के लिए आकुल होने लगती है। धर्म का यही आरम्भ है।

फिर भी यह रीतियाँ और संज्ञायें केवल आरम्भिक हैं; सत्य-प्रेम नहीं। प्रेम का बखान हम सर्वत्र सुनते हैं; सभी कहते हैं, परमेश्वर से प्रीति करो; पर मनुष्य जानते नहीं हैं, प्रेम करना कैसा होता है। यदि जानते, तो इतनी जल्दी प्रेम के बारे में बातें न बनाते। प्रत्येक पुरुष कहता है—मैं प्यार करता हूँ; पर

थोड़ी ही देर में क्या सिद्ध होता है कि उसके भीतर कुछ भी प्यार नहीं। प्रत्येक स्त्री कहती है—मैं प्रेम करती हूँ; पर पल भर में ही मालूम होता है कि उसमें कुछ भी प्यार नहीं। प्रेम की बातों से संसार भरा है; पर प्रेम करना बड़ा कठिन है। प्रेम कहाँ है? तुम कैसे जानते हो कि प्रेम है? प्रेम की पहली पहचान यह है कि प्रेम में सौदा नहीं होता। जब कभी किसीको स्वार्थ-साधन की इच्छा से किसी पर प्रेम जताते देखो, तो समझ लो कि वह प्रेम नहीं है। वह बनियों का प्रेम है। जब 'इस हाथ दे उस हाथ ले' का सवाल आ गया, तो प्रेम कहाँ रहा? इसलिए जब कोई परमेश्वर से प्रार्थना करता है—'मुझे यह दे, वह दे' तो वह सच्ची भक्ति नहीं करता। मैं तुम्हारी थोड़ी सी प्रार्थना करता हूँ, तुम मुझे बदले में अमुक वस्तु दे दो, यह तो दूकानदारी हुई। प्रेम कहाँ रहा?

एक बादशाह था, जो कि आखेट के लिए वन में गया और वहाँ उसको एक महात्मा से भेंट हुई। थोड़े से ही वार्तालाप से वह इतना प्रसन्न हुआ कि उसने उनसे अपनी एक भेंट स्वीकार करने की प्रार्थना की। महात्मा ने कहा—"नहीं, मुझे अपनी दशा से पूर्ण सन्तोष है। इन वृक्षों से खाने के लिए मुझे फल मिलते हैं तथा इन निर्मल निर्झरों से पीने के लिए पानी। इन गुफाओं में मैं सोता हूँ। तुम बादशाह हो, तो भी मुझे तुम्हारी भेंटों की क्या पर्वाह ?" बादशाह ने कहा—आप कुछ भेंट स्वीकार करें, जिससे मैं अनुगृहीत और कृतार्थ होऊँ तथा आप मेरे साथ राजधानी में चलें।" अन्त में महात्मा बादशाह के साथ नगर में

चलने के लिए सन्नद्ध हो गए। तत्पश्चात् धन-सम्पत्ति और नाना वैभवों से भरे हुए राज-मन्दिर में वह लाए गए। धन-वैभव के इस विशाल आगार में उस वनचारी मुनि का स्वागत किया गया। बादशाह उनसे क्षण भर ठहरने के लिए कह एक कोने में जाकर प्रार्थना करने लगा—"हे ईश्वर, मुझे और भी धन-सन्तान और राज्य दे।" इसी समय महात्मा उठकर चल पड़े। बादशाह ने उन्हें जाते देखा और स्वयं पीछे जाकर बोला—"ठहरिये महाराज, आप तो मेरी भेंट बिना स्वीकार किये ही चल दिए।" महात्मा ने लौटकर उत्तर दिया—"भिखारी, मैं भिखारियों की भीख नहीं लेता हूँ। तुम मुझे क्या दे सकते हो ? स्वयं ही तुम दूसरे से माँग रहे थे।" प्रेम की भाषा यह तो नहीं है। यदि परमेश्वर से तुम लेन-देन करते हो, तो प्रेम और दूकान-दारी में अन्तर ही क्या हुआ ? प्रेम की पहली परीक्षा यह है कि प्रेम सौदा नहीं करता। प्रेम सदा देता है, कभी लेता नहीं। ईश्वर का सच्चा भक्त कहता है—"यदि ईश्वर चाहे, तो उसे मैं अपना फटा कुर्ता भी दे सकता हूँ, पर मुझे उससे कुछ नहीं लेना है। संसार में मुझे किसी वस्तु की इच्छा नहीं है। मैं उससे प्रेम के लिए प्रेम करता हूँ न कि किसी स्वार्थ-लाभ की इच्छा से। परमेश्वर सर्वशक्तिमान है कि नहीं इसकी मुझे क्या चिन्ता ; क्योंकि न तो मुझे स्वयं शक्ति चाहिए, न उसकी शक्ति की परीक्षा ही करनी है। मुझे इतना ही काफ़ी है कि मेरा ईश्वर प्रेम-मय है। मुझे अन्य सवाल-जवाबों से क्या करना है।"

प्रेम की दूसरी परीक्षा यह है कि प्रेम भय नहीं जानता। तुम प्रेम को कैसे डरा सकते हो? बकरी और बाघ में कभी प्रेम देखा है, अथवा बिल्ली और चूहे में व मालिक और गुलाम में? गुलाम कभी-कभी प्रेम-भाव प्रदर्शित करते हैं; पर वह क्या सच्चा प्रेम होता है? वह केवल धोखेबाज़ी है। जब तक मनुष्य ईश्वर की इस प्रकार कल्पना करेगा कि वह ऊपर बादलों में एक हाथ में सज़ा और दूसरे में इनाम लिये हुए बैठा है, तब तक उससे प्रेम नहीं हो सकता। प्रेम के साथ भय अथवा अन्य किसी भयोत्पादक वस्तु का विचार नहीं होता। एक युवती माता का ध्यान कीजिये जो कि गली में कुत्ते के भूँकते ही पास के घर में घुस जाती है; पर दूसरे दिन वह बच्चा लिये हुए है और उस पर शेर झपटता है, अब उसका स्थान कहाँ होगा? बच्चे की रक्षा करते हुए शेर के मुँह में। प्रेम ने भय पर विजय पाई। इसी प्रकार परमात्मा का भी प्रेम होता है। ईश्वर दण्ड देता है कि पारितोषिक देता है—इसकी क्या चिन्ता? प्रेमी इस बात का विचार नहीं करता। जज जब कचहरी से आता है, तब उसकी स्त्री उसे सज़ा या इनाम देनेवाले जज के रूप में नहीं देखती, वरन् उसे अपना स्वामी, अपना प्रियतम समझती है। बच्चे उसे किस रूप में देखते हैं? सज़ा देनेवाले जज के, नहीं, वरन् प्यार करनेवाले पिता के रूप में। इसी प्रकार ईश्वर के भक्त उसे सज़ा व इनाम देनेवाला नहीं समझते। जिन्होंने प्रेम के स्वाद को कभी चक्खा नहीं है, वे ही भय से त्रस्त हो जाते हैं।

भय को हृदय से दूर कर दो। सजा और इनाम देनेवाले ईश्वर के गर्हित विचारों को दूर करो। असभ्य और जङ्गली लोगों के लिये ही वे उपयोगी हो सकते हैं; पर जो आत्म-ज्ञानी हैं, जो धर्म के रहस्य को जानते हैं, तथा जिनके हृदय में अन्तर्दृष्टि उत्पन्न हो चुकी है, उनके लिये ऐसे विचार बिल्कुल बच्चों के से और मूर्खता से भरे हुए हैं। ऐसे पुरुष तो भय को हृदय से बिल्कुल निकाल देते हैं।

तीसरी परीक्षा और भी ऊँची है। प्रेम सर्वोच्च आदर्श है। जब मनुष्य पहली दो परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाता है—सब दूकानदारी और भय छोड़ देता है—तब उसे इस बात का अनुभव होता है कि प्रेम का ही आदर्श सब से ऊँचा है। कितनी ही बार देखा जाता है कि एक बहुत ही सुन्दर स्त्री किसी अत्यन्त कुरूप पुरुष से प्रेम करती है। और कितनी ही बार यह भी देखा जाता है कि एक बहुत ही सुन्दर पुरुष किसी अत्यन्त कुरूप स्त्री से प्रेम करता है। वहाँ उनके लिये आकर्षण क्या है? स्त्री और पुरुष की कुरूपता को पास के अन्य लोग ही देखते हैं, प्रेमी नहीं। अपने लिये वे संसार के सभी जनों से अधिक सुन्दर हैं। ऐसा क्योंकर होता है? जो स्त्री कुरूप पुरुष से प्रेम करती थी उसने अपने सौन्दर्य के आदर्श को मानों उस पर बिठा दिया और जिससे वह प्रेम करती थी, वह कुरूप पुरुष नहीं उसके ही आदर्श की प्रतिच्छाया थी। पुरुष एक इशारा भर था, जिसे उसने अपने आदर्श के आवरण से ढँककर अपनी पूजा की वस्तु बना लिया। जहाँ भी हम प्रेम करते हैं, वहाँ यह दशा होती है।

हम लोगों में से कितनों के ही बहुत ही साधारण रूप-रंग के भाई बहन होंगे; पर भाई बहन होने के कारण वे संसार के सभी स्त्री-पुरुषों से अधिक सुन्दर मालूम पड़ते हैं।

इसका रहस्य यही है कि प्रत्येक मनुष्य अपने आदर्श को दूसरे में कल्पना करके उससे प्रेम करने लगता है। यह सारा संसार एक संज्ञा है। जो कुछ हम देखते हैं, वह हमारी ही कल्पना का प्रतिबिम्ब है। सीप के मुँह में एक बालू का दाना पड़ जाता है। उसके उदर में पीड़ा होती है, जिससे वह बालू पर अपना रस गिरा देती है, जिसके फल-स्वरूप हमें मोती मिलता है। यही हम सबका भी क्रम है। बाहरी वस्तुएँ बालू के कणों के समान संज्ञामात्र हैं, जिन्हें हम अपने आदर्श के आवरण से ढक देते हैं। बुरे लोगों को ससार नरक के समान और अच्छे लोगों का स्वर्ग के समान दिखाई पड़ता है। प्रेम करने वालों को यह संसार प्रेम से, घृणा करने वालों को घृणा से, लड़ने वालों को लड़ाई से, शान्ति चाहने वालों को शान्ति से और सम्पूर्ण मनुष्य को परमात्मा से भरा हुआ दिखाई देता है। अत: हम सदैव अपने सर्वोच्च आदर्श की ही उपासना करते हैं, और उस समय जबकि हम अपने आदर्श को आदर्श ही मानकर उससे प्रेम करने लगते हैं, तब सभी सन्देह और तर्क-वितर्क दूर हो जाते हैं। फिर ईश्वर की सत्ता सिद्ध हो सकती है या नहीं, इसकी किसे चिन्ता रहेगी। हमारा आदर्श हमारे स्वभाव और प्रकृति में मिल जाने का कारण फिर हम से अलग नहीं हो सकता। अपने आदर्श के

विषय में हमें तभी सन्देह होगा, जब हमें अपने जीवन में सन्देह होगा और चूँकि हमें अपने जीवन में सन्देह नहीं हो सकता, अतः आदर्श में भी न होगा। इसकी किसे चिन्ता होगी कि विज्ञान ऐसे ईश्वर को मनुष्य के बाहर सिद्ध कर सकता है या नहीं, जो कहीं अलग रहता है और जब मन में आता है, तो संसार का इन्तजाम करता है तथा कुछ दिनों तक संसार का निर्माण कर फिर सो जाता है? इसकी फिक्र किसे होगी कि ईश्वर सर्व-शक्ति-मय होने के साथ ही दयालु भी हो सकता है या नहीं? इसकी किसे पर्वाह होगी कि वह हमें कर्मों का शुभ फल देता है या नहीं तथा हमें एक क्रूर शासक की दृष्टि से देखता है या हमारे एक हितैषी राजा की दृष्टि से? प्रेमी इनाम, सजा, भय, सन्देह, तथा ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिये वैज्ञानिक अथवा अन्य साक्षात् प्रमाणों की आवश्यकता से परे हो जाता है। उसका प्रेम का आदर्श ही उसके लिए सब कुछ है। क्या यह सारा संसार प्रेम की ही महिमा नहीं प्रकट करता। अणु-अणु से और परमाणु-परमाणु से आकर क्यों मिल जाता है? बड़े नक्षत्र एक दूसरे की ओर द्रुत वेग से दौड़ते हुए क्यों चले जाते हैं? पुरुष स्त्री की ओर और स्त्री पुरुष की ओर क्यों आकर्षित होते हैं? मनुष्य-मनुष्य में और पशु-पशु में क्यों प्रेम होता है? किस शक्ति के कारण यह संसार एक केन्द्र की ओर खिंचता हुआ सा दिखाई देता है? वह शक्ति-प्रेम की ही है। छोटे-से-छोटे अणु से लेकर ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श में यही प्रेम विद्यमान है। प्रेम सर्वव्यापी

और सर्वत्र रहनेवाला है। जड़ और चेतन में, किसी विशेष वस्तु और समस्त विश्व में परमात्मा का प्रेम स्पष्ट है। उसी प्रेम के आवेग के कारण ईसा मनुष्य-जाति के लिए अपनी जीवन-आहुति करने के लिए तैयार हो जाता है; बुद्ध एक पशु के लिए, माता बच्चे के लिए तथा पति अपनी स्त्री के लिए मरने को तैयार हो जाता है। यह उसी प्रेम का जोश है, जो मनुष्य स्वदेश के लिए आत्म-बलिदान कर देते हैं और यद्यपि सुनने में विचित्र मालूम होता है, उसी प्रेम के जोश के कारण चोर चोरी करने के लिए और हत्यारा हत्या करने के लिए जाता है; क्योंकि यहाँ पर भी शक्ति वही एक है; केवल भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुई है। संसार में कर्म करने के लिए प्रेरित करनेवाली यही एक मात्र शक्ति है। चोर में भी प्रेम था केवल कुमार्ग में चला गया था। इसलिए सभी पाप तथा पुण्य-कार्य इसी शक्ति से प्रेरित होकर किए जाते हैं। मान लो, तुम में से कोई जेब में से एक काग़ज़ का टुकड़ा निकाल कर न्यूयॉर्क के ग़रीबों के लिए एक सहस्र डॉलरों का चेक लिख देता है और मैं भी जेब से काग़ज़ निकालकर उस पर तुम्हारे जाली हस्ताक्षर बनाने की चेष्टा करता हूँ, तो हम दोनों की प्रेरक शक्ति तो एक ही है, उसके विभिन्न रूपों के उत्तरदायी हम दोनों हैं। दोष उस प्रेरक शक्ति का नहीं है। निर्विकार, पर सब में सदा प्रकाशमान इस संसार की प्रेरक-शक्ति, जिसके बिना एक पल में ही यह संसार कोटि-कोटि टुकड़े होकर बिखर जायगा, प्रेम है और इसी प्रेम का नाम ईश्वर है।

"हे प्यारे, स्त्री-पति से उसके पति होने के कारण प्यार नहीं करती वरन् उसके भीतर स्वात्मा को देखकर उससे प्रेम करती है; इसी प्रकार प्यारे, कोई पति-पत्नी से उसके पत्नी होने के कारण प्रेम नहीं करता, वरन् उसके भीतर स्वात्मा को देखकर ही प्रेम करता है। किसी ने स्वात्मा को छोड़कर अन्य से प्रेम नहीं किया।" यह स्वार्थपरता भी, जिसकी इतनी निन्दा की गई है, उसी प्रेम का एक रूप है। अभिनय के बाहर खड़े हो जाओ, उसमें सम्मिलित न होओ, फिर इस विचित्र रंगभूमि को, इस अपूर्व नाटक के दृश्यों को देखो। इस मधुर संगीत को सुनो। एक प्रेम के ही यह सब विविध रूप हैं। इस स्वार्थपरता में भी आत्मा के अनेक भाग हो जायँगे और उन भागों के फिर और भी भाग हो जायँगे। एक आत्मा, एक पुरुष, विवाह करने पर दो, सन्तान होने पर अनेक तथा बढ़ते-बढ़ते गाँव, नगर हो जायगा और फिर भी यहाँ तक बढ़ेगा कि सारा संसार, सारा ब्रह्माण्ड ही उसे स्वात्म-मय दिखाई देने लगेगा। अन्त में उसी आत्मा में आकर सभी पुरुष, स्त्री, बच्चे, पशु-पक्षी सारा संसार ही आकर केन्द्रीभूत हो जायगा। आत्मा बढ़ते-बढ़ते विश्व-व्यापी अनन्त प्रेम में परिणत हो जायगी। इसी प्रेम का नाम ईश्वर है।

इस प्रकार रीति-रिवाजों, संज्ञाओं और मूर्तियों से नाता तोड़ देने पर हमें श्रेष्ठ भक्ति और सच्चा प्रेम मिलता है। जो कोई भी इस सीमा पर पहुँच जाता है, उसके लिये सम्प्रदायों और

उपधर्मों का कोई मूल्य नहीं रहता। सारे सम्प्रदाय और उपधर्म उसी में होते हैं। फिर वह किस विशेष संप्रदाय या धर्म का आश्रय ले ? ऐसा पुरुष किसी गिर्जे अथवा मन्दिर में प्रवेश नहीं करता; क्योंकि समस्त गिर्जे व मन्दिर उसीमें हैं। किन्हीं परिमित रीति-रिवाजों के बन्धन में वह नहीं पड़ सकता। उसके प्रवेश करने योग्य गिर्जा कहाँ मिलेगा ? निःसीम प्रेम की, जिसमें वह मिल गया है, सीमा कहाँ है ? जिन धर्मों ने इस प्रेम के आदर्श को माना है, उनमें उसे शब्दों में व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। यद्यपि हम इस प्रेम का अर्थ समझते हैं और यह जानते हैं कि संसार के सभी प्रेम, वासनायें व इच्छायें इसी अनन्त-प्रेम के नाना रूप हैं; फिर भी देश-देशान्तरों के महात्माओं और ऋषियों ने इसी आदर्श को शब्दों में व्यक्त करने के लिए भाषा की समस्त शब्द-शक्तियों की परीक्षा कर डाली है, यहाँ तक कि अधम से अधम शब्दों का भी रूपान्तर होने से उनका एक नवीन ही अर्थ निकल आया है।

"प्रियतम, तेरे अधरों का एक मधुर-चुम्बन जिसने पा लिया है, उसकी तुझे पाने की पिपासा बढ़ती ही जाती है। सभी दुखों का अन्त हो जाता है और वह भूत, भविष्य और वर्तमान, सभी की सुधि भूल केवल तेरे ध्यान में मग्न हो जाता है।" यह यहूदी राज-ऋषि ( सुलेमान ) का गीत था और यही गीत भारत के महर्षियों का भी है। जब सब वासनाओं का अन्त हो जाता है; तब प्रेमी को ऐसा ही उन्माद हो जाता है। मोक्ष की, मुक्ति की,

सम्पूर्णता प्राप्त करने की भी किसे चाह रहती है ? प्रेमी कहता है, स्वतन्त्रता की मुझे क्या चिन्ता ?

मुझे धन, सौन्दर्य, प्रतिभा और आरोग्यता भी नहीं चाहिए। संसार की घोर-से-घोर बुराइयों के बीच में तू मुझे जन्म दे, मैं कुछ न कहूँगा ; पर मुझे तू प्यार करने दे और वह भी केवल प्यार के लिए। इन गीतों में ( सुलेमान के गीतों में ) प्रेमी का यही उन्माद भरा हुआ है। सबसे ऊँचा, भावुकता से भरा हुआ, बहुत दृढ़ और अत्यन्त आकर्षण-युक्त स्त्री-पुरुष का प्रेम होता है, इसीलिए उस प्रेम की भाषा का प्रयोग इन गीतों में भी किया गया है। स्त्री-पुरुष के प्रेम का उन्माद ही आत्मिक प्रेमी के उन्माद की कुछ क्षीण प्रतिध्वनि है। आत्मिक प्रेमी वे होते हैं, जो परमात्मा के प्रेम में रँग कर पागल हो जाते हैं। वह मीठी मदिरा, जिसे प्रत्येक धर्म के महात्माओं व ऋषियों ने बनाया है, जिसमें ईश्वर के अनन्य भक्तों ने अपना हृदय-रक्त घोल दिया है, जिसमें उन सब निःस्वार्थ प्रेमियों की आशायें बुल्लों के समान उठ रही हैं, जिन्होंने फलाशा त्याग सत्य-प्रेम पाने की ही आशा से प्रेम किया था, उसी मीठी मदिरा का प्याला ईश्वर के प्रेमी पीना चाहते हैं। उन्हें प्रेम छोड़ अन्य किसी वस्तु की इच्छा नहीं। प्रेम का फल प्रेम है ; पर वह कैसा सुन्दर फल है ! प्रेम ही एक वस्तु है, जो हमारे सारे दुःखों को दूर कर सकती है तथा प्रेम ही की वह मदिरा है, जिसे पीने से इस संसार के क्लेश नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य में अलौकिक पागलपन आ जाता है। वह भूल जाता है कि मैं मर्त्य मनुष्य हूँ।

अन्त में हम देखते हैं कि संसार के सभी धर्मों का लक्ष्य केवल एक है—आत्मा और परमात्मा का पूर्ण मिलन। आरम्भ में सदा हमें द्वन्द्व का भेद-ज्ञान रहता है, परमात्मा और जीव हमें अलग-अलग मालूम पड़ते हैं। जब मनुष्य के हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है, तब वह परमेश्वर की ओर बढ़ने लगता है और परमेश्वर भी मानों उससे मिलने के लिये आगे बढ़ता आता है। मनुष्य-जीवन के सभी नाते निबाहता है, जैसे—पिता, माता, मित्र और प्रेमी, क्रम से वह इन सबके कार्य करता है। अन्त में वह उपास्य वस्तु में मिलकर एक हो जाता है। मैं-तुम का भेद मिट जाता है। अपनी पूजा करने से मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ और तुम्हारी पूजा करने से अपनी। मनुष्य ने जिस कार्य का आरम्भ किया था, उसका यहाँ अन्त होगया। जहाँ पर श्री हुई थी, वहीं पर इति भी हुई। प्रारम्भ में प्रेम अपने लिए ही था इसलिए स्वार्थी था। अन्त में सत्य-ज्योति के दर्शन होने पर आत्मा परमात्मा में मिल गई। वही ईश्वर जो पहले कहीं पर बैठा हुआ एक व्यक्ति प्रतीत होता था, अब सहसा मानों अनन्त प्रेम में परिवर्तित हो गया। मनुष्य की भी काया-पलट होगई। वह परमात्मा के समीप पहुँच रहा था और अपनी सांसारिक इच्छाओं और वासनाओं को छोड़ रहा था। इच्छाओं के साथ स्वार्थ भी नष्ट होगया और चरम सीमा पर पहुँचकर उपासना, उपासक और उपास्य तीनों एक होगये।

---

# वेदान्त.

[ लाहौर में १२ नवम्बर सन् १८९७ ई० को दिया हुआ व्याख्यान ]

हमारे रहने के दो संसार हैं—एक आन्तरिक दूसरा वाह्य। प्राचीनकाल से उन्नति प्रायः दोनों ही संसारों में समानरूप से हुई है। सत्य की खोज पहले वाह्य संसार में आरम्भ हुई। गूढ़-से-गूढ़ प्रश्नों का उत्तर मनुष्य ने बाहरी प्रकृति से ही पाना चाहा। उसने अपनी अनन्त सौन्दर्य और चिदानन्द की तृष्णा को वहिर्प्रकृति से ही बुझाना चाहा तथा अपनी आत्मा और अपनी भावनाओं को भौतिक संसार की भाषा में ही व्यक्त करना चाहा और उसे अपनी खोज के सुन्दर फल भी मिले। ईश्वर और उसके अगाध सौन्दर्य की अनुपम कविता उत्पन्न हुई। वाह्य प्रकृति ने अत्यन्त कवित्व-मय विचारों को जन्म दिया ; पर वाद को मनुष्य ने एक इससे भी अधिक सुन्दर, कवित्व-मय तथा कहीं अधिक विस्तृत संसार को खोज निकाला। वेदों के कर्म-काण्ड भाग में धर्म के अद्भुत विचारों का वर्णन किया गया है, एक सर्व-शासक सृष्टा, पालक और नाश करनेवाले परमात्मा की महिमा का वखान किया गया है तथा इस ब्रह्माण्ड का आत्मा को हिला देने वाली भाषा में चित्र खींचा गया है। आप लोगों में से

बहुतों को ऋग्वेद-संहिता के उस अनुपम श्लोक का स्मरण होगा, जिसमें प्रलय का वर्णन किया गया है तथा जो शायद प्रलय के सभी वर्णनों से उत्कृष्ट है। यह सब होते हुए भी यह केवल वाह्य सौन्दर्य का चित्रण है, अतः हमें उसमें कुछ स्थूलता व कुछ भौतिकता अवश्य दिखाई देती है। यह अनन्त का सान्त की भाषा में वर्णन है। यह अनन्त भी शरीर का है, न कि आत्मा का, स्थूल प्रकृति का न कि सूक्ष्म अन्तर्ज्योति का। अतः दूसरे भाग ज्ञान-काण्ड में एक दूसरे ही मार्ग का अनुसरण किया गया है। पहले सत्य की खोज वाह्य-प्रकृति में की गई थी। जीवन की गहन-से-गहन समस्याओं का उत्तर भौतिक प्रकृति से पाने की चेष्टा की गई थी।"

"यस्यायिते हिमवान्तो महत्त्वम्।"

"जिसके गौरव का हिमालय बखान कर रहे हैं।" यह बहुत ही सुन्दर विचार है फिर भी भारतवर्ष के लिये काफी सुन्दर न था। भारतीय मस्तिष्क ने अपने ही भीतर दृष्टि डाली। खोज वाह्य से आन्तरिक में, भौतिक से आत्मिक में आरम्भ हुई। "अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" इत्यादि की पुकार आरंभ हुई। जब मनुष्य मर जाता है, तो उसका क्या होता है?"

"कोई कहते हैं कि वह रहता है, कोई कहते हैं कि नहीं रहता। हे मृत्यु, बोल, सत्य क्या है?" यहाँ पर हम देखते हैं कि मार्ग बिल्कुल ही भिन्न हो गया है। वाह्य-प्रकृति से जो मिल सकता था, भारतीय मस्तिष्क ने उसे ले लिया; पर उससे उसे सन्तोष

न हुआ। उसने अपने भीतर, अपनी आत्मा में ही और भी खोज करनी चाही और उसे उत्तर मिला।

उपनिषद्, वेदान्त, अरण्यक और रहस्य, वेदों के इसी भाग का नाम है। यहाँ पर धर्म ने भौतिकता से बिल्कुल ही नाता तोड़ दिया है। यहाँ पर आत्मज्ञान का संसार की भाषा में नहीं, वरन् आत्मा का आत्मा की ही भाषा में, अनन्त का अनन्त की ही भाषा में वर्णन किया गया है। अब इस कविता में तनिक भी स्थूलता नहीं, भौतिकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। उपनिषदों के प्रतिभाशाली महर्षियों ने कल्पनातीत निर्भयता के साथ, बिना किसी हिचक के मनुष्य-जाति में सुन्दर से सुन्दर सत्यों की दृढ़ घोषणा की है। हे मेरे देश-वासियो, उन्हीं सत्यों को मैं तुम्हारे सम्मुख रखना चाहता हूँ; पर वेदों का ज्ञान-काण्ड एक विशाल सागर है। उसके थोड़े से भी भाग को समझने के लिये कई जीवनों की आवश्यकता है। रामानुज ने उपनिषदों के बारे में सत्य ही कहा है कि वेदान्त वेदों का स्कन्ध और उन्नत शीश भाग है। उपनिषद् ही हमारे देश की बाइबिल हैं। हिन्दुओं के हृदय में वेदान्त के कर्म-काण्ड भाग के लिये असीम सम्मान है; पर पीढ़ियों से सभी व्यावहारिक कार्यों के लिये श्रुति अर्थात् उपनिषदों और केवल उपनिषदों से ही काम लिया गया है। हमारे सभी बड़े दार्शनिकों ने, चाहे वह व्यास हों, चाहे पातञ्जलि, चाहे गौतम, चाहे सभी दर्शनों के पितामह कपिल ही क्यों न हों, जिन्हें कभी किसी बात के लिये प्रमाण

देने की आवश्यकता पड़ी है, तो उन्होंने उपनिषदों का ही आश्रय लिया है। उपनिषदों में ही उन्हें सब प्रमाण मिले हैं; क्योंकि उपनिषदों में ही हमारे भारतीय ऋषियों ने अमिट और अनमोल सत्यों का प्रतिपादन किया है।

उनमें कुछ सत्य ऐसे हैं, जो देश-काल के अनुसार किन्हीं विशेष दशाओं में ही सत्य हैं तथा अन्य सत्य ऐसे हैं, जो अपनी सत्यता के लिए मनुष्य-प्रकृति पर ही निर्भर हैं और तब तक अमर सत्य रहेंगे, जब तक कि मनुष्य है। ये वे सत्य हैं, जो सर्व-देशीय और सर्व-कालीन हैं। भारतवर्ष में खान-पान, रहन-सहन, पूजा-उपासना आदि के अनन्त सामाजिक परिवर्तनों के होने पर भी हमारी श्रुतियों के अलौकिक सत्य, वेदान्त के ये अद्भुत विचार आज भी सदा की भाँति अपने महान् कवित्व के साथ अजेय और अजर-अमर स्थिर हैं। फिर भी उपनिषदों में जिन विचारों का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है, मूल-रूप में उनका वर्णन कर्म-काण्ड में पहिले ही किया गया है। ब्रह्माण्ड का विचार, जिसमें सभी वेदान्तियों को विश्वास है तथा वे विचार जो सभी दर्शनों की समान रूप से नींव हैं, पहिले से ही वहाँ विद्यमान हैं। इसलिये वेदों के गूढ़ भागों में जाने के पहले ही मैं इस कर्म-काण्ड भाग के विषय में दो शब्द कह देना चाहता हूँ। पहिले मैं वेदान्त शब्द का अर्थ ही साफ़-साफ़ बताता हूँ। अभाग्य-वश आज-कल बहुत से लोग समझते हैं कि वेदान्त का अर्थ केवल अद्वैत-वाद से है, पर आप लोगों को ध्यान रखना चाहिए

कि अध्ययन के लिये हमारे यहाँ तीन प्रस्थान हैं। सबसे पहिले उपनिषद् हैं, जो कि ईश्वर की साक्षात् प्रेरणा से लिखे हुए समझे जाते हैं, फिर हमारे दर्शनों में व्यास के सूत्र हैं, जो कि सभी प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों की समष्टि होने के कारण बहुत प्रख्यात हैं। वे एक दूसरे के विरुद्ध नहीं, वरन् एक ही विकास पाते हुए सिद्धान्त के नाना रूप हैं। इसी विकास का अन्त व्यास के सूत्रों में हुआ है। उपनिषदों के और सूत्रों के, जिनमें वेदान्त के सुन्दर सत्यों का स्पष्ट और क्रमानुसार संग्रह है, बीच में वेदान्त की अलौकिक व्याख्या श्री गीता का स्थान है। चाहे द्वैतवादी हो, चाहे अद्वैतवादी हो, चाहे वैष्णव हो, चाहे शैव हो, भारतवर्ष के सभी सम्प्रदायों ने अपनी सत्यता सिद्ध करने के लिये इन्हीं तीन उपनिषद्, गीता और व्यास-सूत्रों में से ही प्रमाण दिए हैं। शङ्कराचार्य, रामानुज, माधवाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य—जिस किसी ने भी अपना नया धर्म चलाना चाहा है, उसी ने इन्हीं तीन विचार-व्यवस्थाओं पर अपनी एक नई व्याख्या लिख डाली है। अतएव उपनिषदों से उत्पन्न किसी विशेष विचार-व्यवस्था को ही वेदान्त का नाम देना अनुचित होगा। वेदान्त में यह सभी व्यवस्थाएँ आ जाती हैं। एक रामानुज-सम्प्रदायी अपने-आपको उतना ही वेदान्ती कह सकता है, जितना कि एक अद्वैत-वादी। यही नहीं मैं तो इससे भी एक क़दम आगे बढ़कर यह कहूँगा कि 'हिन्दू' से हमारा अर्थ वेदान्ती से ही होता है। वेदान्ती कहने से भी हिन्दू का बोध होता है। आप लोगों को

एक बात और ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि यह तीनों दर्शन-व्यवस्थाएँ भारतवर्ष में अनन्त काल से प्रचलित हैं— आप लोगों को यह न समझना चाहिए कि शङ्कराचार्य ही अद्वैत-वाद के विधाता थे, अद्वैत-वाद शङ्कराचार्य के उत्पन्न होने के पूर्व सहस्रों वर्षों से ही यहाँ था, वह उसके केवल अन्तिम प्रतिपादक थे—फिर भी मेरे स्वल्प-ज्ञानानुसार वे एक दूसरे के विरुद्ध नहीं हैं। इसी प्रकार रामानुज-सम्प्रदाय, जैसा कि उस पर लिखी गई व्याख्याओं से विदित है, रामानुज के जन्म के सहस्रों वर्ष पहले से ही यहाँ विद्यमान था। इसी प्रकार अन्य मत-मतान्तरों के साथ सभी प्रकार के द्वैत-वाद भी यहाँ थे, फिर भी यह सब एक दूसरे के विरोधी न थे। जिस प्रकार हमारे छः दर्शन एक ही सुन्दर सिद्धान्त के सुन्दर विकास हैं। जो संगीत पहले धीमे मधुर-स्वरों में आरम्भ हुआ था, अद्वैत-वाद उसीका घनघोर विजय-घोष है, उसी प्रकार इन तीनों व्यवस्थाओं में हम मनुष्य को उच्च-से-उच्च आदर्शों की ओर बढ़ते पाते हैं, यहाँ तक कि सभी वाद अद्वैत-वाद की अनुपम एकता में एक हो जाते हैं। इसलिए यह एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं; पर साथ में मैं यह भी बता देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि इस प्रकार की भूल कुछ एक दो ने नहीं की है। अद्वैत-वादी जो पाठ अद्वैत-वाद का वर्णन करता है, उसे तो अपना रखता ही है, जो द्वैत-वाद अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाले सिद्धांतों का वर्णन करता है, उसे भी तोड़-मरोड़कर वह अपना स्वेच्छित

अर्थ निकालता है। इसी प्रकार द्वैतवादी भी अद्वैत-वाद के पाठ को तोड़-मरोड़कर उसका स्वेच्छित अर्थ निकालते हैं। हमारे गुरु-जन महान् पुरुष थे, फिर भी उनमें दोष थे और गुरु-जनों के दोष भी कहे जाने चाहिएँ। मैं समझता हूँ कि उन्होंने केवल यहाँ पर ही भूल की थी। हमें पाठों को तोड़-मोड़कर अनोखे स्वेच्छित अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं है, न किसी प्रकार की धार्मिक बेईमानी और व्याकरण की बारीकियों पर जूझने की ही जरूरत है। वेदों के सुन्दर विचार समझ लेने पर हमारे लिए कोई कठिनाई न रहेगी। यह सत्य है कि उपनिषदों का एक ही मुख्य विषय है—"वह कौन सा सत्य है, जिसे जान कर हमें और कुछ जानने की जरूरत न रहेगी?" आजकल की भाषा में उपनिषदों का ध्येय, जैसा कि सभी ज्ञान का ध्येय होता है, बहुरूपता में एकता को पाना है और इसीका नाम ज्ञान है। सभी ज्ञान-विज्ञान इसी बहुरूपता में एकता खोजते हैं। आज-कल का क्षुद्र पदार्थ-विज्ञान जिसे हम 'साइंस' कहकर पुकारते हैं, यदि कुछ पदार्थों और प्रकृति-भागों में एकता ढूँढना चाहता है, तो कल्पना कीजिए इस अनन्त नाम और अनन्त रूप वाले विशाल ब्रह्माण्ड में, जहाँ प्रत्येक पदार्थ दूसरे पदार्थ से शक्ति और आकार में भिन्न है, जहाँ असंख्य आकार-प्रकार, असंख्य विचार, असंख्य लोक हैं, एकता को ढूँढ़ निकालना कितना महान् कार्य है और इसी एकता को पाना ही उपनिषदों का ध्येय है। साथ ही यहाँ पर भी अरुन्धती-न्याय से काम लिया गया है। किसी को

ध्रुव-तारा दिखाना होता है, तो पास का खूब चमकता हुआ तारा उसे दिखाया जाता है और फिर क्रमशः ध्रुव-तारा। यही क्रम हमारा भी होगा और मुझे अपने विचार को सत्य सिद्ध करने के लिए आप लोगों के सामने केवल उपनिषदों को रखना होगा। प्रायः प्रत्येक अध्याय का आरम्भ द्वैत-वादी उपासना से होता है। इसके बाद ईश्वर सृष्टि का सृजन करनेवाला, उसका पोषक तथा जिसमें वह अन्त में लय हो जाता है, ऐसा बताया जाता है। बाह्य और अन्तर्प्रकृति का स्वामी विश्व का वह उपास्य देवता बताया जाता है, फिर भी मानों उसका अस्तित्व प्रकृति से कहीं बाहर हो। इससे एक पग आगे बढ़ने पर हम उसी गुरु को यह बताते पाते हैं कि ईश्वर प्रकृति से परे नहीं, वरन् उसी में अन्तर्व्याप्त है। अन्त में यह दोनों ही विचार छोड़ दिये जाते हैं और जो कुछ भी सत्य है, वही ईश्वर बताया जाता है। कोई अन्तर नहीं रहता। "तत्त्वमसि श्वेतकेतो!" अन्त में यह बताया जाता है कि मनुष्य की आत्मा और वह सर्व-व्यापी एक ही है।" "श्वेतकेतु, वह तू ही है।" यहाँ पर कोई समझौता नहीं किया गया है। दूसरे के मिथ्या विचारों से कोई सहानुभूति नहीं दिखाई गई। सत्य, दृढ़ सत्य की निर्द्वन्द्व भाषा में घोषणा की गई है और उस दृढ़ सत्य की आज भी उसी निर्द्वन्द्व भाषा में घोषणा करने में हमें भयभीत न होना चाहिये। ईश्वर की कृपा से मैं समझता हूँ कि उस सत्य के निर्भयता-पूर्वक प्रचार करने का साहस मुझ में है।

अच्छा, अब जहाँ से आरम्भ किया था, समझने की पहिले दो बातें हैं—एक तो सभी वेदान्त-वादियों की समान विचार-प्रणाली, दूसरी संसार और सृष्टि आदि के विषय में उनके पृथक्-पृथक् विचार। आधुनिक विज्ञान के नव-नव आविष्कार और नई-नई खोजें आकाश से गिरनेवाली बिजलियों के समान आपको चकित कर देती हैं। जिन बातों को आपने स्वप्न में भी न सोचा था, वे ही आँखों के सामने आती हैं, पर जिसे 'फ़ोर्स' या शक्ति कहा जाता है, मनुष्य ने उसे बहुत दिनों पहिले ही ढूँढ़ निकाला था। यह तो अभी कल ही जाना गया है कि विभिन्न शक्तियों में भी एकता है। मनुष्य ने हाल ही में पता लगाया है कि जिन्हें वह 'हीट' (गर्मी), मैग्नेटिज्म (आकर्पण) एलेक्ट्रिसिटी (विद्युत्) आदि नामों से पुकारता है, वे सब एकही 'यूनिट फोर्स' (एक शक्ति) के नाना रूप हैं, आप उसे चाहे जो नाम दें। यह विचार संहिता में ही है। संहिता की ही भाँति प्राचीन यह शक्ति या 'फोर्स' का विचार है। सभी शक्तियाँ, उन्हें आकर्पण, प्रत्याकर्पण, विद्युत्, गर्मी आदि चाहे जिन नामों से पुकारो, वे सब कुछ नहीं हैं, एक पग भी आगे नहीं। या तो वे अन्तःकरण से उत्पन्न विचारों के रूप में प्रकट होती हैं अथवा मनुष्य की अन्तरिन्द्रियों के रूप में जिनकी प्रजनन-शक्ति एक 'प्राण' है। फिर प्राण क्या है? प्राण स्पन्दन है। प्रलय के अनन्तर जब यह समस्त ब्रह्माण्ड अपने आदि रूप में हो जायगा, तब इस अनन्तशक्ति का क्या होगा? क्या उसका अन्त हो

जायगा ? ऐसा, तो हो नहीं सकता। यदि उसका अन्त हो जावे, तो दूसरी शक्ति-धारा का कारण क्या होगा ; क्योंकि शक्ति तरंगों के समान ऊपर-नीचे उठती-गिरती वहती है ? ब्रह्माण्ड के इस क्रम का 'सृष्टि' शब्द से बोध होता है। ध्यान रखिये सृष्टि का अर्थ बनाने से नहीं है। ( अँग्रेजी में भाषण देने से इस समय बड़ी कठिनाई प्रतीत होती है, फिर भी मुझे किसी प्रकार संस्कृत शब्दों का रूपान्तर करना ही होगा।) सृष्टि का अर्थ है—उत्थान पतन। प्रत्येक पदार्थ विकसित होते हुए अपनी चरम दशा पर पहुँचकर फिर अपने आदि रूप को प्राप्त होता है, जहाँ पर कुछ देर के लिये स्थिर हो वह पुनः उत्थान के लिये तैयार होता है। इसी क्रम का नाम सृष्टि है। फिर इन शक्तियों का, प्राणों का क्या होता है ? वे आदि प्राण में लय हो जाते हैं और यह प्राण प्रायः स्थिर हो जाता है—बिल्कुल ही स्थिर तो नहीं पर प्रायः स्थिर हो जाता है और सूक्त में इसीका वर्णन किया गया है। बिना स्पन्दन के उसमें स्पन्दन हुआ, अनादिवत् ! उपनिषदों में बहुत से पाठ हैं, जिनका अर्थ लगाना बहुत कठिन है, खासकर उनके विशेष शब्दों के प्रयोग में। उदाहरण के लिए वायु शब्द को लीजिए। कभी इसका अर्थ होता है, हवा और कभी होता है गति। बहुधा लोग एक के स्थान में दूसरे का अर्थ लगा लेते हैं। इस बात का हमें ध्यान रखना होगा। "वह उस रूप में स्थित था और जिसे तुम भौतिक प्रकृति कहते हो, उसका क्या होता है ? सभी प्रकृति शक्तियों से व्याप्त है, जो कि हवा में लय हो जाती

है। उसीमें से वे पुनः निकलती हैं और सबसे पहिले 'आकाश' निकलता है। आप इसे 'ईथर' आदि चाहे जो नाम दें, सिद्धान्त यह है कि प्रकृति का आदि रूप यही 'आकाश' है। जब प्राण की क्रिया आकाश पर होती है, तब उसमें स्पन्दन होता है और जब दूसरी सृष्टि होने को होती है, तब यही स्पन्दन तीव्रतर हो जाता है और फिर आकाश शत-शत तरंगों में विभक्त हो जाता है, जिन्हें हम सूर्य, चन्द्र आदि नामों से पुकारते हैं।

"यदिदम् किञ्च जगत् सर्वम् प्राण एजति निःसृतम्।"

"प्राणों के निस्पन्दन से ही सृष्टि का जन्म हुआ है।" 'एजति' शब्द पर आपको ध्यान देना चाहिए; क्योंकि वह 'एज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—स्पन्दन करना। निःसृतम्—निकली है, यदिदम् किञ्च—जो कुछ भी यह ब्रह्माण्ड है।

यह सृष्टि-क्रम का एक भाग है। इसमें और भी बहुत सी बारीकियाँ हैं। जैसे इस क्रिया का संपूर्ण वर्णन—किस प्रकार पहिले आकाश उत्पन्न होता है, फिर उसमें से अन्य पदार्थ किस प्रकार आकाश में स्पन्दन होता है और उसमें से वायु उत्पन्न होती है; पर मुख्य विचार यहाँ पर यह है कि स्थूल की सूक्ष्म से उत्पत्ति होती है। स्थूल प्रकृति बाह्य है और इसकी सबसे बाद उत्पत्ति हुई है, इसके पहिले सूक्ष्म प्रकृति थी। एक के ही दो रूप हो जाते हैं, जिनमें कोई समान ऐक्य दिखाई नहीं देता; पर उनमें प्राण की एकता है और आकाश की भी। क्या और भी किसी की एकता है? क्या वे एक में मिल सकते हैं? हमारी

साइंस यहाँ पर चुप रहती है। उसे अभी अपना मार्ग नहीं मिला और मिलेगा, तो वही उपनिषदोंवाला जिस प्रकार कि उसे हमारे प्राचीन 'प्राण' और 'आकाश' मिल चुके हैं। दूसरी एकता उस निर्गुण सर्व-व्यापी की है, जिसका नाम 'महत्' है तथा जिसे पुराणों में चतुर्मुख ब्रह्मा कहा गया है। यहाँ पर इन दोनों का मिलन होता है। जो तुम्हारा 'मस्तिष्क' है, वह इसी महत् का एक क्षुद्रतम भाग है और सभी मस्तिष्कों के जोड़ को समष्टि कहते हैं ; पर अभी खोज पूरी नहीं हुई। यहाँ पर, हम लोग छोटे परमाणुओं के समान हैं, जिनकी समष्टि ही यह ब्रह्माण्ड है ; पर जो कुछ व्यष्टि में हो रहा है, हम बिना किसी भय के अनुमान कर सकते हैं कि बाहर भी वैसा ही होता होगा। यदि अपने मस्तिष्क की क्रियाओं के निराकरण करने की शक्ति हम में होती, तो शायद हम जान पाते कि उनमें भी वैसा ही हो रहा है ; पर प्रश्न यह है कि यह मस्तिष्क है क्या ? वर्तमान समय में पाश्चात्य देशों में जब पदार्थ-विज्ञान आशातीत उन्नति करता हुआ पुराने धर्मों के क़िले पर क़िले जीतता चला जाता है, वहाँ के लोगों को स्थिर रहने का स्थान नहीं मिलता ; क्योंकि पदार्थ-विज्ञान ने प्रति पग पर मस्तिष्क और दिमाग़ को एक बतलाया है, जिससे उन्हें बड़ी निराशा हुई है, पर हम भारतवासी तो यह रहस्य सदा से जानते थे। हिन्दू बालक को सबसे पहिले यही सीखना होता था कि मस्तिष्क भौतिक प्रकृति का ही एक अधिक सूक्ष्म रूप है। बाह्य शरीर तो स्थूल है, उसके भीतर सूक्ष्म शरीर है। यह भी

भौतिक है ; पर अधिक सूक्ष्म है, पर 'आत्मा' फिर भी नहीं है। ( इस शब्द का मैं आप लोगों के लिए अंग्रेजी में रूपान्तर न करूँगा ; क्योंकि इसका विचार यूरोप में है ही नहीं। इसका रूपान्तर हो ही नहीं सकता। जर्मन दार्शनिकों ने उसका रूपान्तर 'सेल्फ' शब्द से किया है ; पर जब तक वह सर्व-मान्य न हो जावे, उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। अतः उसे 'सेल्फ' आदि चाहे जिन नामों से पुकारिये, है वह यही हमारी 'आत्मा' ) स्थूल शरीर के पीछे यह आत्मा ही वास्तविक मनुष्य है। आत्मा ही स्थूल मस्तिष्क से, अन्तःकरण से, ( जो कि उसका विशेष नाम है ) काम कराती है। और मस्तिष्क अन्तरिन्द्रियों के द्वारा हमारी बहिरिन्द्रियों से काम करता है। यह मस्तिष्क क्या है ? पाश्चात्य दार्शनिकों ने तो अभी कल ही जान पाया है कि आँखें ही देखने की वास्तविक इन्द्रियाँ नहीं हैं, वरन् इनके पीछे वे अन्तरिन्द्रियाँ हैं, जिनके नष्ट होने पर हमारे यदि इन्द्र के समान सहस्र आँखें भी हों फिर भी हम देख न सकेंगे। यही तो, तुम्हारा सारा दार्शनिक विचार ही यह सिद्धान्त मानकर आरम्भ होता है कि आँखों की दृष्टि सच्ची दृष्टि नहीं है। सच्ची दृष्टि तो मस्तिष्क की अन्तरिन्द्रियों की है। उन्हें आप जो चाहें कहें ; पर बात असली यह है कि हमारे नाक, कान, आँखें आदि हमारी वास्तविक इन्द्रियाँ नहीं हैं। सभी इन्द्रियों और मानस, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार का मिलाकर नाम मस्तिष्क है। अतः यदि वर्तमान वैज्ञानिक तुमसे आकर कहता है कि मनुष्य का दिमाग़

ही मस्तिष्क है और इतनी इन्द्रियों से बना है, तो तुम उससे कह दो कि हमारे यहाँ के विद्वान् यह हमेशा से ही जानते थे, हमारे धर्म का तो यह क, ख, ग, घ ही है।

अच्छा, तो अब समझना यह है कि मानस, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि का क्या अर्थ है। पहिले चित्त—यही मस्तिष्क है। महत् का यही एक भाग है। मस्तिष्क और उसकी सभी दशाओं का बोध चित्त से होता है। मान लीजिये एक झील है, जो कि संध्या समय बिल्कुल ही शान्त है, उसमें एक छोटी सी भी लहर नहीं उठती। समझिये यही चित्त है। अब यदि उसमें कोई छोटा सा पत्थर फेंकता है, तो क्या होता है? पहिले पानी में पत्थर लगने की क्रिया होती है, फिर पानी में ही पत्थर के विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है, जो कि एक लहर का रूप ले लेती है। पहिले तो पानी में थोड़ा सा स्पन्दन होता है, फिर शीघ्र ही प्रतिक्रिया होती है, जो कि लहर बन जाती है। हमारा चित्त इसी झील के समान है और बाह्य पदार्थ उसमें फेंके हुए पत्थरों के समान हैं। जैसे ही उसका इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों से संयोग होता है, बाह्य पदार्थों को अन्दर ले जाने के लिये वहाँ इन्द्रियाँ जरूर होनी चाहिएँ। तब वहाँ स्पन्दन होता है, जिसका नाम मानस, अनिश्चित् है। इसके पश्चात् प्रतिक्रिया या निश्चित करनेवाली शक्ति बुद्धि होती है और बुद्धि के साथ ही अहम् और वहिर्पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है। मान लीजिये मेरे हाथ पर एक मसा बैठा है। इन्द्रियों द्वारा चित्त में उसके कारण

थोड़ी सनसनी पहुँचती है और उसमें थोड़ा स्पन्दन होता है। यह अनिश्चित् मानस है। इसके अनन्तर ही प्रतिक्रिया होती है और इसका ज्ञान होता है कि मेरे हाथ पर एक मसा बैठा है, जिसे मुझे उड़ाना होगा। इसी प्रकार चित्त-रूपी झील में पत्थर फेंके जाते हैं, अन्तर केवल इतना है कि झील में पत्थर बाहर से ही फेंके जाते हैं, चित्त में भीतर से भी फेंके जा सकते हैं। इसी का नाम अन्तःकरण है। साथ ही इसके आपको एक बात और समझ लेनी चाहिए, जो आपको अद्वैतवाद समझने में सहायता देगी। आपमें से बहुतों ने मोती देखे होंगे और बहुतों को मालूम भी होगा कि मोती किस प्रकार बनते हैं। सीप के मुँह में कोई बालू का कण चला जाता है, जिससे उसके उदर में पीड़ा उत्पन्न होती है। सीप के शरीर में इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है, जिसके फलस्वरूप वह बालू पर अपना रस गिरा देती है। वही इकट्ठा और कठोर होकर मोती बन जाता है। यह ब्रह्माण्ड भी उसी मोती के समान है। उसके बनानेवाले हमी हैं। बाह्य संसार से हमारे चित्त में केवल थपेड़ लगती है, जिससे उसमें प्रतिक्रिया होती है और जब बुद्धि कार्य करती है, तब हम उस बाह्य संसार को जान पाते हैं। इस प्रकार संसार का जो हमारे मस्तिष्क में प्रतिबिम्ब स्थिर होता है, उसे ही हम संसार समझते हैं। उसके आकार-प्रकार को हमारे मस्तिष्क ने ही निश्चित् किया है। इसलिये आजकल के वैज्ञानिक दिनों में बाह्य संसार की यथार्थता में कट्टर विश्वास करनेवालों को भी

इसमें शङ्का न होगी कि यदि संसार 'क' है, तो जो हम जानते वह 'क' धन मस्तिष्क है और मस्तिष्क-भाग इतना विशद है कि उसने समस्त 'क' को ढँक लिया है। पर 'क' अज्ञात् और अज्ञेय है। अज्ञात् और अज्ञेय बाह्य संसार के विषय में जो कुछ हम जानते हैं, वह हमारे मस्तिष्क का ही गढ़ा हुआ है। इसी प्रकार आन्तरिक संसार में हमारी 'आत्मा' के विषय में भी। आत्मा को जानने के लिये उसे मस्तिष्क द्वारा ही जानना होगा और जो कुछ थोड़ा भी हम आत्मा के विषय में जानते हैं, वह आत्मा धन मस्तिष्क है, अर्थात् आत्मा जैसा कि उसे मस्तिष्क ने गढ़ा और कल्पित किया है। इस विषय को हम लोग फिर लेंगे; पर अभी इतना याद रखना चाहिये।

दूसरी बात समझने की यह है। प्रश्न उठा कि यह शरीर मौतिक प्रकृति की सतत बहती हुई धारा है। प्रतिक्षण हम उसमें कुछ-न-कुछ जोड़ते जाते हैं और प्रतिक्षण ही उसमें से कुछ-न-कुछ निकलता जाता है, जिस प्रकार कि एक बहती हुई विशाल नदी में सैकड़ों मन पानी पल-पल में अपना स्थान बदलता रहता है। इस समस्त भ्रम की कल्पना कर हम उसे 'नदी' का नाम देते हैं। पर नदी है क्या? प्रतिक्षण तो पानी बदलता रहता है, तट बदलते रहते हैं, किनारे के वृक्ष, फल, फूल, पत्ते सभी बदलते रहते हैं। फिर नदी कहाँ है? नदी इसी परिवर्तन-क्रम का नाम है; इसी प्रकार मस्तिष्क भी। यह बौद्धों का क्षणिक विज्ञान-वाद है, जोकि समझने में महा कठिन है; पर जिसका निराकरण

अत्यन्त तर्क और न्याय के साथ किया गया है। भारतवर्ष में ही वेदान्त के कुछ भागों के विरोध में इसका जन्म हुआ था। इसका भी उत्तर देना था और हम देखेंगे किस प्रकार इसका उत्तर केवल अद्वैत-वाद ही दे सका था। हम देखेंगे किस प्रकार अद्वैत-वाद के विषय में लोगों के विचित्र और भयान्वित विचारों के होते हुए भी अद्वैत-वाद ही संसार का मुक्ति-मार्ग है; क्योंकि न्याय और तर्क के साथ संसार की समस्याओं का उत्तर उसीमें है। द्वैत-वाद आदि उपासना के लिए बहुत अच्छे हैं, मानव-हृदय को सन्तोष देते हैं, और शायद आत्म-ज्ञान की उन्नति में भी थोड़ी-बहुत सहायता देते हैं; पर यदि मनुष्य धर्म को न्याय और तर्क के साथ ही मानना चाहता है, तो उसके लिए संसार में अद्वैत-वाद ही एक धर्म है। अच्छा तो, मस्तिष्क एक नदी के समान है, जो एक सिरे पर निरन्तर भरा करती है और दूसरे सिरे पर खाली होती रहती है। वह एकता कहाँ है, जिसे हम आत्मा कहते हैं? विचार यह था कि शरीर और मस्तिष्क में सतत परिवर्तन होने पर भी संसार के विषय में हमारे विचार परिवर्तन-शील हैं। कई दिशाओं से आती हुई प्रकाश की किरणें, यदि किसी पर्दे या दीवाल या अन्य किसी वस्तु पर, जोकि परिवर्तन-शील न हों, गिरें, तभी वे एकता और सम्पूर्णता प्राप्त कर सकती हैं। इसी प्रकार वह स्थान कौनसा है, जहाँ पर मानव इन्द्रियों के केन्द्रीभूत होने से उसके सभी विचार एकता और सम्पूर्णता को प्राप्त होंगे? यह स्थान मस्तिष्क तो हो नहीं सकता; क्योंकि मस्तिष्क में भी

परिवर्तन होता है। इसलिये कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिये, जो कि न तो शरीर हो, न आत्मा, तथा जिसमें कभी परिवर्तन न होता हो और जिस पर हमारे सभी विचार और भाव एकत्रित होकर एकता और सम्पूर्णता प्राप्त कर सकें। यह वस्तु मनुष्य की आत्मा है। यह देखते हुए कि सभी भौतिक प्रकृति, चाहे उसे तुम सूक्ष्म कहो, चाहे मस्तिष्क कहो, परिवर्तनशील है तथा स्थूल प्रकृति और यह वाह्य संसार उसके समक्ष क्षणिक है, वह अपरिवर्तनशील आत्मा किसी भौतिक पदार्थ की बनी हुई नहीं हो सकती। वह आत्मिक अर्थात् भौतिक नहीं है, वरन् अविनाशी और स्थिर है।

इस वाह्य संसार को किसने बनाया? भौतिक प्रकृति को किसने जन्म दिया? आदि प्रश्नों को, जो कि सृष्टि के सम्बन्ध में उत्पन्न होते हैं, छोड़कर अब एक दूसरा प्रश्न है। सत्य को यहाँ मनुष्य की अन्तर्प्रकृति से जानना है और यह प्रश्न भी उसी भाँति उठता है, जिस प्रकार कि आत्मा के विषय में प्रश्न उठा था। यह मान लेने पर कि प्रत्येक पुरुष में एक अविनाशी और स्थिर आत्मा है, उन आत्माओं में विचार, भाव व सहानुभूति की एकता होनी चाहिये। मेरी आत्मा किस यंत्र के द्वारा किस प्रकार तुम्हारी आत्मा को प्रभावित कर सकती है? मेरे हृदय में तुम्हारी आत्मा के विषय में कोई भी भाव व विचार कैसे उत्पन्न होता है? वह क्या है, जिसका सम्बन्ध हम दोनों की आत्माओं से है? इसलिये एक ऐसी आत्मा मानने की

वैज्ञानिक आवश्यकता है, जिसका सम्बन्ध सभी आत्माओं व प्रकृति से हो, एक ही आत्मा जो कि असंख्य आत्माओं में व्याप्त हो; उनमें पारस्परिक सहानुभूति व प्रेम उत्पन्न करती हो और एक से दूसरे के लिये कार्य कराती हो। यह सभी आत्माओं में व्याप्त विश्व की उपास्य देवता, परमात्मा है। साथ ही परिणाम यह भी निकलता है कि आत्मा के स्थूल प्रकृति से न बड़े होने के कारण वह स्थूल प्रकृति के नियमों से बाध्य भी न होगी। हमारे प्राकृतिक नियम उस पर लागू न होंगे। इसलिये वह अविनाशी और स्थिर है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

"आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती। आत्मा अदाह्य, अभेद्य और अशोष्य तथा स्थिर, अचल, सनातन व सर्वव्यापक है।" तब यह आत्मा क्या करती है? गीता के और वेदान्त के भी अनुसार आत्मा विभु है तथा कपिल के अनुसार सर्व-व्यापी भी। निस्सन्देह भारतवर्ष में ऐसे मत हैं, जिनके अनुसार यह आत्मा 'अणु' है, पर उनका तात्पर्य यह कि प्रकट होने में ही वह 'अणु' है, उसकी वास्तविक प्रकृति तो 'विभु' है।

इसके साथ ही एक दूसरा विचार आता है, जो कि देखने में पहले कुछ अद्भुत प्रतीत होता है; पर है भारतवर्ष के लिए बिलकुल ही स्वाभाविक। हमारे सभी धर्मों और सम्प्रदायों में वह विद्यमान है। इसलिए मैं आप लोगों से उस पर विशेष ध्यान देने और उसे याद रखने के लिए प्रार्थना करता हूँ। विचार यह है। पश्चिम में जिस भौतिक विकास-वाद के सिद्धान्त का जर्मन और अंग्रेज विद्वानों ने प्रचार किया है, उसके विषय में आप लोगों ने सुना होगा। उनका कथन है कि विभिन्न पशुओं के शरीर वास्तव में एक हैं, एक ही नियमित क्रम के वे भिन्न-भिन्न रूप हैं। एक क्षुद्रतम कीट से लेकर एक महान्-से-महान् मनुष्य तक सभी एक हैं। एक दूसरे के रूप में बदलता जाता है और इस प्रकार ऊँचे चढ़ते-चढ़ते अंत में वह संपूर्णता प्राप्त कर लेता है। हमारे यहाँ भी यह विचार था। योगी पातञ्जलि कहते हैं—"जात्यंतर परिणामः।" एक जाति का दूसरी में परिवर्तन (परिणामः) होता है। हमारे और पाश्चात्यों के विचारों में फिर अन्तर कहाँ रहा? "प्रकृत्यापूरात्।" प्रकृति के पूरे होने से। पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि जीवन-संग्राम में होड़ा-होड़ी से तथा नर-मादे के सम्बन्ध-विचार आदि से एक शरीर अपना रूप बदलता है; पर यहाँ पर एक और भी सुन्दर विचार है, समस्या का एक और भी सुचारु निराकरण है—"प्रकृत्यापूरात।" इसका अर्थ क्या है? हम यह मानते हैं कि एक क्षुद्रतम कीट में स्थित-जीव धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ बुद्ध बनता है; पर साथही हमें यह

भी विश्वास है कि किसी मशीन से तुम यथेच्छ काम तब तक नहीं ले सकते, जब तक कि उसे तुम दूसरे सिरे पर न रक्खो। शक्ति का परिमाण एक ही रहेगा, रूप उसका चाहे जो हो। यदि शक्ति का कोई परिमाण तुम एक सिरे पर रखना चाहते हो, तो दूसरे सिरे पर भी तुम्हें शक्ति का वही परिमाण रखना होगा, रूप उसका चाहे जो हो। इसलिये यदि परिवर्तन-क्रम का एक सिरा बुद्ध है, तो दूसरा सिरा वह क्षुद्र-जीव अवश्य होगा। यदि बुद्ध उसी जीव का सम्पूर्ण विकास पाया हुआ रूप है, तो वह जीव भी बुद्ध का अविकसित रूप रहा होगा। यदि यह ब्रह्मांड अनन्त शक्ति का प्रकटीकरण है, तो प्रलय की दशा में इसी शक्ति का वह अविकसित रूप रहा होगा। अन्यथा हो नहीं सकता। इसका परिणाम यह निकलता है कि प्रत्येक आत्मा अनन्त है। उस छोटे-से-छोटे कृमि से लेकर, जोकि तुम्हारे पैरों के नीचे रेंगता है, बड़े-से-बड़े महात्मा तक—सभी में यह अनन्त शक्ति, यह अनन्त पवित्रता और सब कुछ अनन्त है। भिन्नता केवल प्रकटित रूप में है। कृमि उस शक्ति की एक बहुत ही थोड़ी मात्रा को प्रकट करता है, तुम उससे अधिक, एक महात्मा तुम से भी अधिक। अन्तर बस इतना ही है। फिर भी है, तो। पातञ्जलि कहते हैं—"ततः क्षेत्रिकावत्।" "जिस प्रकार किसान खेत सींचता है।" अपने खेत को सींचने के लिये उसे एक जलाशय से पानी लाना है, जिसमें मान लीजिये एक बाँध बँधा है, जिसके कारण पानी खेत में सम्पूर्ण वेग से नहीं आ सकता। जब उसे

पानी की आवश्यकता होगी, तब उसे केवल उस बाँध को हटा देना होगा और पानी खेत में आकर भर जायगा। शक्ति बाहर से नहीं लाई गई, जलाशय में वह पहिले से ही थी। इसी प्रकार हम में से प्रत्येक के पीछे ऐसी ही अनन्त शक्ति, अनन्त पवित्रता, चिदानन्द, अमर जीवन का विशाल सिन्धु भरा हुआ है, केवल इन शरीररूपी बाँधों के कारण हम अपनी सम्पूर्णता का अनुभव नहीं कर सकते। जैसे ही हमारे शरीरों की स्थूलता छूटती जाती है और वे सूक्ष्म होते जाते हैं, तमोगुण रजोगुण हो जाता है और रजोगुण सतोगुण हो जाता है, वैसे ही यह शक्ति, यह पवित्रता और भी अधिक प्रकट होती है। इसीलिये हमारे यहाँ खान-पान के विषय में इतना विचार किया गया है। यह हो सकता है कि वास्तविक विचारों का लोप हो गया हो जैसे कि बाल-विवाह के विषय में, जो यद्यपि विषय के बाहर है पर मैं उदाहरण के लिये लेता हूँ। यदि फिर कभी समय मिला, तो इन बातों के बारे में भी मैं आपसे कुछ कहूँगा। बाल-विवाह के पीछे जो सद्विचार छिपे हुए हैं, आप सच्ची सभ्यता उन्हीं से प्राप्त कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। समाज में यदि स्त्री-पुरुषों को अपनी पति-पत्नी चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जाय, उन्हें अपनी व्यक्तिगत वासनाओं की तृप्ति करने के लिये मैदान साफ मिले, तो सन्तान अवश्य ही दुरात्मा और निर्दय उत्पन्न होगी। देखो न, प्रत्येक देश में मनुष्य ऐसी ही दुष्ट सन्तान को जन्म दे रहा है और उसीके साथ समाज की रक्षा के लिये

पुलिस-दल की संख्या को भी बढ़ा रहा है। बुराई का नाश पुलिस बढ़ाने से न होगा, वरन् उसकी जड़ ही उखाड़ देनी चाहिए। जब तक तुम समाज में रहते हो, तब तक तुम्हारे विवाह से मैं और समाज का प्रत्येक जन बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकता। इसीलिए समाज को अवश्य अधिकार है कि वह तुम्हें आज्ञा दे कि तुम किसके साथ विवाह करो और किसके साथ न करो। ऐसे ही विचार बाल-विवाह के पीछे थे। इसीलिए लड़के-लड़की की जन्म-पत्री आदि मिलाई जाती थी। मनु के अनुसार तो जो बच्चा कामेच्छा के तृप्त करने से उत्पन्न होता है, वह आर्य नहीं होता। सच्चा आर्य तो वह होता है, जिसका गर्भ में आना व मृत्यु वेदों के ही अनुसार होती है। इस प्रकार की आर्य सन्तान प्रत्येक देश में न्यूनातिन्यून संख्या में उत्पन्न की जाती है और इसीलिए हम संसार में इतनी बुराई देखते हैं, जिसे कलियुग कहा जाता है, पर हम लोग यह सब विचार खो चुके हैं। यही नहीं कि इन विचारों का हम भली-भाँति पालन नहीं कर सकते ; उनमें से बहुतों का तो खींच खाँचकर हमने तमाशा बना डाला है। निस्संदेह हमारे माता-पिता आज वह नहीं हैं, जो कि पहिले थे। न समाज ही पहले की भाँति सुशिक्षित और सभ्य है, न हमें एक दूसरे से वैसा प्रेमही है फिर भी हमारा सिद्धान्त सच्चा है। यदि उसके अनुसार किया गया कार्य दोषपूर्ण है, एक बार यदि काम करने में हम से भूल हुई है, तो सिद्धान्त को क्यों छोड़ते हो ? एक बार फिर कार्य आरम्भ करो। इसी प्रकार खान-पान के भी विषय

में। सिद्धान्त के अनुसार किया गया कार्य बहुत ही दोषपूर्ण और त्रुटियों से भरा हुआ है फिर भी इससे सिद्धान्त सत्य और अमर है। अपने कार्य को सुधार-सहित एक बार फिर आरंभ करो।

भारतवर्ष में 'आत्मा' के इस महान् विचार को सभी धर्म मानते हैं। अंतर केवल इतना है कि द्वैतवादी कहते हैं कि आत्मा पाप-कर्म करने से सङ्कुचित हो जाती है, उसकी शक्तियों और वास्तविक प्रकृति में सङ्कोच होजाता है, अच्छे कर्म करने से वह फिर अपनी आदि-दशा को प्राप्त होती है। अद्वैत-वादी कहते हैं कि आत्मा कभी घटती-बढ़ती नहीं, ऊपर से ही वैसा प्रतीत होता है। सारा अन्तर बस इतना ही है; पर सभी धर्मों का यह विश्वास है कि आत्मा की शक्तियाँ उसीके पास रहती हैं, आकाश से आकर उसमें कुछ टपक नहीं पड़ता। वेद परमात्मा-जनित नहीं, आत्म-जनित हैं। वे कहीं बाहर से नहीं आये; वरन् प्रत्येक आत्मा में रहनेवाले वे अमर धर्म हैं। एक देवता की आत्मा में और एक चींटी की आत्मा में वेद समान-रूप से हैं। चींटी को केवल विकास पाकर कोई महात्मा व ऋषि हो बनना है कि वेद, वे अमर धर्म, अपने आप प्रकट हो जाँयगे। ज्ञान का यह एक महान् सिद्धान्त है कि हमारी शक्ति सदा हमारी ही थी, हमारा मोक्ष हमारे ही भीतर था। चाहे कहो कि आत्मा संकुचित हो जाती है, चाहे कहो कि उस पर माया का पर्दा पड़ जाता है, कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। मुख्य बात एक ही है और आपको उसमें विश्वास करना चाहिये, विश्वास करना

चाहिये कि जो कुछ एक बुद्ध के लिये संभव है वही एक छोटे-से-छोटे पुरुष के लिये भी संभव है। यही 'आत्मा' का सिद्धान्त है।

पर अब एक विकट युद्ध का आरम्भ होता है। सामने बौद्ध खड़े हैं, जोकि हमारी ही भाँति शरीर को भौतिक प्रकृति की सतत बहती हुई धारा बताते हैं तथा मस्तिष्क का भी हमारी ही भाँति निराकरण करते हैं। 'आत्मा' के विषय में वे कहते हैं कि इसे मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं। एक सगुण पदार्थ की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है। हम कहते हैं केवल गुणों को ही मानो। जहाँ एक कारण मानने से काम चल सकता है, वहाँ दो को मानना न्याय-विरुद्ध है। इसी प्रकार युद्ध होता रहा और आत्मा के विषय में जितने सिद्धान्त थे, सभी पर बौद्धों ने विजय पाई। जो आत्मा के सिद्धान्त को माननेवाले थे कि हममें तुममें सभी में आत्मा है, जो कि शरीर और मस्तिष्क दोनों से भिन्न है, अब उनमें खलबली पड़ गई। अभी तक हम देख चुके हैं कि द्वैतवाद ठीक उतरता चला आया है, क्योंकि एक शरीर है, उसके बाद सूक्ष्म मस्तिष्क, उसके बाद आत्मा और इन सब आत्माओं में व्याप्त एक परमात्मा है। कठिनाई अब यहाँ पड़ती है कि आत्मा और परमात्मा दोनों ऐसे माने हुए पदार्थ हैं, जिनके शरीर और मस्तिष्क गुणों के समान हैं। किसी ने इस पदार्थ को देखा तो है नहीं, न उसकी कल्पना ही की जा सकी है, फिर उसके बारे में सोच-विचार करने का क्या फल होगा? 'क्षणिक' होकर यह क्यों न कहा जाय कि जो कुछ है,

वह हमारे मस्तिष्क में इस परिवर्तन-क्रम का प्रतिबिम्ब भर है। परिवर्तन की एक दशा का दूसरी से कोई सम्बन्ध नहीं। सागर की लहरों के समान वे एक दूसरी का अनुसरण करती हैं; पर कभी एकता व सम्पूर्णता नहीं प्राप्त करतीं। मनुष्य इसी प्रकार की तरङ्गों का अनुक्रमण है, एक चली जाती है, तो दूसरी उसका अनुसरण करती है और जब इस क्रम का अन्त हो जाता है, उस दशा का ही नाम निर्वाण है। द्वैतवाद का यहाँ कोई तर्क नहीं चलता, न द्वैतवादी ईश्वर ही यहाँ अपनी जगह पर खड़ा रह सकता है। द्वैतवादी ईश्वर सर्व-व्यापी होने के साथ ही बिना हाथों के बनाता है और बिना पैरों के चलता है। जैसे कुंभकार घट बनाता है, उसी भाँति वह ब्रह्मांड को बनाता है। बौद्ध कहता है कि यदि ईश्वर ऐसा ही है, तो वह उसकी उपासना करने के बजाय उससे युद्ध करेगा। संसार दारुण दुःखों से भरा हुआ है और यदि यह कार्य ईश्वर का किया हुआ है, तो वह अवश्य उसके विरुद्ध उठ खड़ा होगा। इसके साथ ही, जैसा कि आप सभी को विदित होगा, ऐसे ईश्वर भी कल्पना तर्क और न्याय के विरुद्ध है, ऐसा ईश्वर असंभव है। क्षणिकों की भाँति हमें इस सृष्टि के दोषों की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं; पर द्वैतवादियों के व्यक्तिगत ईश्वर का ढेर हो गया। तुम्हारा तो कहना है कि हमें केवल सत्य चाहिए। "सत्यमेव जयते नानृतम्।"

सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्य द्वारा ही तुम देवयानम् को पा सकते हो। सभी पहिले एक झण्डे के नीचे

चले थे, पर केवल कमज़ोर मनुष्यों को हराने के लिए। द्वैतवादी ईश्वर को लिए हुए और अपने को बड़ा ज्ञानी समझते हुए तुम एक ग़रीब मूर्ति-पूजा करने वाले से झगड़ने लगे। तुमने सोचा कि हमीं को सत्य-ज्ञान मिला है, इस अज्ञानी का नाश कर देना चाहिए; पर यदि वह लौट पड़ा और तुम्हारे ही ईश्वर, तुम्हारे उस काल्पनिक आदर्श को उसने छिन्न-भिन्न कर डाला, तो फिर तुम कहाँ रहे? या तो तुम कहने लगे कि हमें 'फ़ेथ' है, विश्वास है या सदा के कमज़ोर मनुष्यों की भाँति अपने विरोधियों से पुकारने लगे—"तुम लोग नास्तिक हो!" जब हारने लगे, तब नास्तिकता की गुहार मचाने लगे। यदि तुम तर्क और न्याय पर रहते हो, तो दृढ़तापूर्वक उन्हीं पर स्थिर रहो और यदि विश्वास पर रहते हो, तो अपनी भाँति दूसरे को भी अपने विश्वास पर स्थिर रहने दो। तुम ईश्वर की सत्ता कैसे सिद्ध कर सकते हो? उसकी सत्ता खण्डन करना इससे कहीं अधिक सरल है? उसकी सत्ता सिद्ध करने के लिए कोई भी प्रमाण नहीं, उसका खण्डन करने के लिए अवश्य प्रमाण है। अपना ईश्वर, उसकी सगुणता एक ही पदार्थ की बनी हुई भिन्न-भिन्न असंख्य आत्माएँ—इन सबके सिद्ध करने के लिए तुम्हारे पास क्या प्रमाण हैं? आप दूसरे से किस प्रकार भिन्न हैं? शरीर से तो नहीं; क्योंकि आप आज बौद्धों से भी भली भाँति जानते हैं कि शायद जो प्रकृति-भाग अभी सूर्य में रहा होगा, वही क्षण में आपके शरीर में मिल जायगा और थोड़ी देर में वही जाकर पौधों में मिल जायगा। फिर

महाशयजी, आपका व्यक्तित्व कहाँ रहता है ? यही दशा मस्तिष्क की भी है। रात में तुम्हारा एक विचार है, सबेरे दूसरा। जैसा तुम बचपन में सोचते थे, वैसा अब नहीं सोचते और जैसा कोई वृद्ध-पुरुष अब सोचता है, वैसा उसने अपनी युवावस्था में न सोचा था। फिर तुम्हारा व्यक्तित्व कहाँ है ? यह न कहो कि तुम्हारा व्यक्तित्व तुम्हारी ज्ञान-शक्ति, तुम्हारे अहङ्कार में है, क्योंकि यह बहुत ही संकुचित है। मैं अभी तुमसे बात-चीत कर रहा हूँ और मेरी इन्द्रियाँ सब अपना काम भी किये जाती हैं; पर मुझे इसका ज्ञान नहीं है। यदि ज्ञान ही जीवन का चिन्ह है, तब तो इन्द्रियाँ हैं ही नहीं, क्योंकि मुझे उनके कार्य का ज्ञान नहीं होता। फिर आपका व्यक्तिगत ईश्वर कहाँ रहता है ? उसकी सत्ता सिद्ध करने के लिये आपके पास कोई प्रमाण नहीं। बौद्ध फिर खड़े होंगे और कहेंगे कि ऐसा ईश्वर तर्क और न्याय के ही विरुद्ध नहीं है, उसकी उपासना करना पाप है। मनुष्य कायर होकर दूसरे के सामने सहायता के लिये गिड़गिड़ाता है। कोई भी उसकी इस प्रकार की सहायता नहीं कर सकता। यह देखो संसार है, मनुष्य ने उसे बनाया है। फिर एक कल्पित ईश्वर की उपासना क्यों करते हो, जिसे न किसी ने देखा-सुना है, न जिससे किसी ने सहायता पाई है। फिर जान-बूझकर कायर क्यों बनते हो ? कुत्ते के समान इस कल्पित व्यक्ति के सामने जाकर तुम नाक रगड़ते हो और कहते हो—"हम बड़े ही कमजोर हैं, बड़े ही अपवित्र हैं। संसार में पतितों के सिरताज हमीं हैं।" अपनी

सन्तान के सन्मुख रखने को सबसे सुन्दर तुम्हें यही कायरता का आदर्श मिला है ? इस प्रकार तुम एक मिथ्या कल्पना में ही विश्वास नहीं करते ; वरन् अपनी सन्तान में घोर बुराई को जन्म दे महत् पाप के भागी होते हो। याद रक्खो, यह संसार इच्छा-शक्ति पर निर्भर है। जैसा तुम अपने मन में सोचते हो, उसीमें तुम विश्वास करते हो। बुद्ध के यह प्रायः पहिले ही शब्द थे—"जैसा तुम सोचते हो, वैसे तुम हो, जैसा तुम सोचोगे, वैसे तुम होगे।" यदि यह सच है तो यह मत सीखो कि हम कुछ नहीं हैं और जब तक आकाश में बैठा हुआ ईश्वर हमारी सहायता न करेगा, तब तक हम कुछ नहीं कर सकते। इसका परिणाम यही होगा कि तुम दिन पर दिन और भी कमज़ोर होते जाओगे। तुम ईश्वर से कहोगे—"हे ईश्वर! हम बहुत अपवित्र हैं, तू हमें पवित्र कर!" फल यह होगा कि तुम और भी अपवित्र होगे, और भी पापों में लिप्त होगे। बौद्ध कहते हैं कि जितनी बुराइयाँ तुम किसी समाज में देखते हो, उनमें से ९० फ़ीसदी इसी व्यक्तिगत ईश्वर की उपासना के कारण होती है। इस सुन्दर, इस अनुपम जीवन की सार्थकता कुत्ता बनकर दूसरे के सामने दुम हिलाने में ही है! कैसी जघन्यता है! बौद्ध वैष्णव से कहता है—यदि तुम्हारे जीवन का उद्देश्य और ध्येय बैकुण्ठ जाना और वहाँ अनन्त काल तक हाथ बाँधे ईश्वर के सामने खड़ा रहना ही है, तो इससे तो आत्महत्या करके मर जाना ही अधिक श्रेयकर होगा। बौद्ध

यह भी कह सकता है कि इसीसे बचने के लिये उसने निर्वाण बनाया है। मैं आप लोगों के सामने बौद्ध के स्थान में दूसरे पक्ष के विचार रख रहा हूँ, जिससे आपको दोनों पक्षों के विचारों का पूर्ण ज्ञान होजावे। आज-कल कहा जाता है कि अद्वैतवाद कायर विचारों को जन्म देता है। दोनों पक्षों का दृढ़तापूर्वक सामना कर सत्य का निश्चय करना चाहिये। हम देख चुके हैं कि इस सृष्टि को बनानेवाला व्यक्तिगत ईश्वर सिद्ध नहीं किया जा सकता। आज कोई बच्चा भी क्या ऐसे ईश्वर में विश्वास करेगा? एक कुम्हार घड़ा बनाता है, इसलिये परमेश्वर भी यह संसार बनाता है—यदि ऐसा है, तब तो कुम्हार भी परमेश्वर है और यदि कोई कहे कि ईश्वर बिना सिर पैर और हाथों के रचना करता है, तो उसे तुम बेशक पागलखाने ले जा सकते हो। आधुनिक विज्ञान का दूसरा चैलेञ्ज यह है—"अपने व्यक्तिगत ईश्वर से, जिसके सामने तुमने जन्म भर हीं-हीं की है, क्या कभी कोई सहायता पाई है?" वैज्ञानिक यह सिद्ध कर देंगे कि रोने-गिड़गिड़ाने में तुमने व्यर्थ ही अपनी शक्ति खर्च की। जो कुछ सहायता मिली भी, उसे तुम बिना रोये-गिड़-गिड़ाये अपने प्रयत्नों से स्वयं ही उपार्जन कर सकते थे। इस व्यक्तिगत ईश्वर के विचार के साथ ही अत्याचार और धर्म-गुरुओं का भी जन्म होता है। जहाँ भी यह विचार रहा है, वहाँ धर्म-गुरु और अत्याचार भी अवश्य रहे हैं। बौद्ध कहते हैं, जब तक तुम अपने मिथ्या सिद्धान्त का ही समूल नाश न कर

दोगे, तब तक इस अत्याचार का अन्त नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य सोचेंगे कि उन्हें अपने से एक अधिक शक्तिशाली व्यक्ति से याचना करनी पड़ेगी, तब तक धर्मगुरु भी रहेंगे, ग़रीब आदमियों और ईश्वर के बीच में वे दलाली करने के लिये सदा तैयार रहेंगे और इसलिये अपने लिये विशेष अधिकार भी माँगेंगे। ब्राह्मण पुजारी के मस्तक में डंडा मारकर उसे चाहे कोई गिरा दे; पर याद रक्खो, वह स्वयं ही उसके स्थान में धर्म-गुरु बन जायगा और पहिलेवाले में तो थोड़ी दया भी थी, यह बिल्कुल ही निर्दय अत्याचारी होगा। यदि किसी भिखारी को थोड़ा सा धन मिल जाता है, तो वह सारे संसार को कुछ नहीं गिनता। इसलिये जब तक व्यक्तिगत ईश्वर की उपासना रहेगी तब तक यह धर्म-गुरुओं का सम्प्रदाय भी रहेगा और तब तक समाज में सद्विचार नहीं आ सकते। धर्म-गुरु और अत्याचार हमेशा कन्धे से कन्धा मिलाकर चलेंगे, फिर इनका आविष्कार किसने किया? पुराने ज़माने में कुछ सबल पुरुषों ने शेष निर्बल पुरुषों को अपने वश में कर लिया और उनसे कहा—"तुम हमारा कहना न मानोगे, तो हम तुम्हें पीट-पाटकर ठीक कर देंगे।" संक्षेप में इसी प्रकार इनकी उत्पत्ति हुई। "सभयम् वज्रमुद्यतम्।"

एक वज्र धारण करने वाला शक्ति-शाली पुरुष, जो अपनी आज्ञा न मानने वालों का नाश कर देता है, ऐसे ईश्वर का विचार ही इस सब की जड़ है। इसके बाद बौद्ध कहता है कि यहाँ तक

तो तुम न्याय पर हो जब कहते हो कि हमारी वर्तमान दशा हमारे पूर्व-कर्म का फल है। तुम सभी विश्वास करते हो कि आत्मा अनादि और अनन्त है, आत्माएँ असंख्य हैं, हमें पूर्व-कर्म का इस जन्म में फल मिलता है। यह सब तो ठीक है; क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता, भूत-कर्म का फल वर्तमान में मिलता है और वर्तमान-कर्म का भविष्य में। हिन्दू कहता है कि कर्म जड़ है न कि चैतन्य इसलिए इस कर्म का फल देने के लिये किसी चैतन्य की आवश्यकता है; पर क्या पौधे को बढ़ाने के लिए भी चैतन्य की जरूरत होती है? यदि मैं बीज बोकर उसे पानी से सींचूँ, तब तो उसके बढ़ने में किसी चैतन्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। वृक्ष अपने ही आप बढ़ता है। तुम कह सकते हो, उसमें कुछ चैतन्य पहले से ही था; पर आत्मा भी तो चैतन्य है और चैतन्य का क्या करना है? यदि आत्मा चैतन्य है, तो बौद्धों के विरुद्ध आत्मा में विश्वास करने वाले जैनों के कथनानुसार, ईश्वर में विश्वास करने की क्या आवश्यकता है? द्वैत-वादीजी, अब आप का न्याय और तर्क कहाँ है? और जब तुम कहते हो कि अद्वैत-वाद से पाप बढ़ा है, तब द्वैत-वादियों के कारनामों पर भी तो दृष्टि-पात करो, हिन्दुस्तान की कचहरियों की कितनी इन लोगों से आमदनी हुई है। यदि देश में बीस हजार अद्वैत-वादी गुण्डे हैं, तो द्वैतवादी गुण्डे भी बीस हजार से कम नहीं हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो, द्वैतवादी गुण्डे ही ज्यादा होंगे, क्योंकि अद्वैतवाद को समझने के लिए अधिक अच्छा

दिमाग चाहिए, जिसे भय और लोभ सहसा दबा न सकेगा। अब किसका सहारा लोगे? बौद्ध के पञ्जों से कोई छुटकारा नहीं। तुम वेदों का प्रमाण दो, उनमें उसे विश्वास नहीं। वह कहेगा—"हमारे त्रिपिटक कहते हैं, नहीं और उनका भी न आदि है न अन्त। स्वयं बुद्ध ने भी उन्हें नहीं बनाया, क्योंकि वह केवल उनका पाठ करते थे। त्रिपिटक सर्वकालीन हैं। तुम्हारे वेद झूठे हैं, हमारे सच्चे। तुम्हारे वेदों को ब्राह्मणों ने स्वार्थ-साधन के लिए गढ़ा है; इसलिए हटाओ उन्हें दूर!" अब बताओ किधर से भाग कर बचोगे?

अच्छा तो, यह देखो निकलने का रास्ता। बौद्धों का पहला झगड़ा यही लो कि पदार्थ और गुण भिन्न-भिन्न हैं, अद्वैतवादी कहता है, नहीं हैं। पदार्थ और गुण भिन्न नहीं हैं। तुम्हें पुराना उदाहरण याद होगा कि किस प्रकार भ्रमवश रस्सी साँप समझी जाती है और जब साँप दिख जाता है, तब रस्सी कहीं नहीं रहती। पदार्थ और गुण का भेद विचारक के मस्तिष्क में ही होता है, वास्तव में नहीं। यदि तुम साधारण मनुष्य हो, तो तुम पदार्थ देखते हो और यदि बड़े योगी हो तो केवल गुण, पर दोनों ही एक साथ तुम नहीं देख सकते। इसलिए बौद्ध जी, आपका पदार्थ और गुण का झगड़ा मानसिक भूल-भुलैयाँ भर था, वास्तविक नहीं; पर यदि पदार्थ निर्गुण है, तो वह केवल एक ही हो सकता है। यदि आत्मा पर से गुणों को हटा दो, तो दो आत्माएँ न रहेंगी; क्योंकि आत्माओं की भिन्नता गुणों के ही कारण होती

है। गुणों के ही द्वारा तो तुम एक आत्मा को दूसरी आत्मा से भिन्न करके मानते हो, गुण तो वास्तव में हमारे मस्तिष्क में ही होते हैं, आत्मा में नहीं। जब गुण न रहेंगे, तब दो आत्माएँ भी न होंगी। अतएव आत्मा एक ही है, तुम्हारे परमात्मा की कोई आवश्यकता नहीं। यह आत्मा ही सब कुछ है। यही परमात्मा है, यही जीवात्मा भी। और सांख्य आदि द्वैतवाद जो आत्मा को विभु बताते हैं, सो दो अनन्त कैसे हो सकते हैं? यह आत्मा ही अनन्त और सर्व-व्यापी है, अन्य सब इसी के नाना रूप हैं। यहाँ पर तो बौद्धजी रुक गए; पर अद्वैतवाद यहीं नहीं रुकता। अन्य कमजोर वादों की भाँति अद्वैतवाद दूसरों की आलोचना करके ही चुप नहीं हो जाता। उसके अपने सिद्धान्त भी हैं। अद्वैतवादी जब कोई उसके बहुत निकट आ जाता है, तो उसे थोड़ा पछाड़ भर देता है और फिर अपने स्थान पर आजाता है। एक अद्वैतवादी ही ऐसा है, जो कि आलोचना करके चुप नहीं रहता, अपनी पुस्तकें ही नहीं दिखाता, वरन् अपने सिद्धान्तों को भी बताता है। अच्छा तो तुम कहते हो यह ब्रह्माण्ड घूमता है। व्यष्टि में प्रत्येक वस्तु घूमती है। तुम घूम रहे हो, यह मेज घूम रही है, यह "संसार" घूम रहा है। सतत घूमने से इसका नाम "जगत्" है। इसलिये इस जगत् में कोई एक व्यक्तित्व हो नहीं सकता। व्यक्तित्व उसका होता है, जिसमें परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन-शील व्यक्तित्व कैसा? यह दोनों शब्द तो विरोधी हैं। इस जगत्

में, हमारे इस छोटे से संसार में, कोई भी व्यक्तित्व नहीं। विचार और भाव, मस्तिष्क और शरीर, पशु-पत्ती सभी हर समय परिवर्तन की दशा में रहते हैं; पर यदि तुम समस्त ब्रह्माण्ड को लो, तो क्या यह भी घूम सकता है, क्या इसमें भी परिवर्तन हो सकता है? कदापि नहीं। गति का ज्ञान तभी होता है, जब पास की वस्तु की गति या तो कम हो या हो ही नहीं। इसलिये सारा ब्रह्माण्ड स्थिर और अपरिवर्तनशील है। इसलिये तुम एक व्यक्ति तभी होगे जबकि सारे ब्रह्माण्ड में मिल जाओगे जबकि "मैं ही ब्रह्माण्ड हूँगा"। इसीलिये वेदान्ती कहता है कि जब तक द्वंद्व-भाव रहेगा तब तक भय का अन्त न होगा। जब दूसरे का भेद-ज्ञान नष्ट हो जाता है और एक ही एक रह जाता है तभी मृत्यु, का नाश होता है। मृत्यु, संसार कुछ नहीं रहता। इसलिये अद्वैतवादी कहता है—"जब तक तुम अपने आपको संसार से भिन्न समझते हो, तब तक तुम्हारा कोई व्यक्तित्व नहीं। तुम तभी अपना व्यक्तित्व-लाभ करोगे, जब ब्रह्माण्ड में मिलकर एक हो जाओगे।" सम्पूर्ण में मिलकर ही तुम अमरता प्राप्त करोगे। जब तुम ब्रह्माण्ड हो जाओगे, तभी तुम निर्भय और अविनाशी भी होगे। जिसे तुम ईश्वर कहते हो, वह यह ब्रह्माण्ड ही है, वह सम्पूर्ण है, वही तुम भी हो। इस एक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को साधारण स्थिति के हमारे से मस्तिष्क वाले सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि नाना रूपों में देखते हैं। जिन्होंने हमसे और अच्छे कर्म किए हैं, मरने पर वे इसे स्वर्ग, इन्द्र आदि के रूप में देखते हैं, जो इनसे भी ऊँचे होते हैं वे इसे

ब्रह्म-लोक करके देखते हैं; पर जो सम्पूर्णता प्राप्त कर चुके हैं, वे न मृत्युलोक देखते हैं, न स्वर्ग-लोक, न ब्रह्म-लोक। तब तो इस ब्रह्माण्ड का ही लोप हो जाता है और केवल ब्रह्म ही ब्रह्म रह जाता है।

क्या हम इस ब्रह्म को जान सकते हैं? संहिता में अनन्त-चित्रण का वर्णन मैं आपसे कर चुका हूँ। यहाँ पर दूसरे अनन्त का वर्णन है। पहिला अनन्त भौतिक प्रकृति का था, यह अनन्त आत्मा का है। पहिले सीधी भाषा में उसका वर्णन कर दिया गया था; पर इस बार जब उस तरह काम न चला; तो नेति-नेति का आश्रय लेना पड़ा। यह ब्रह्माण्ड हम देखते हैं, इसे ब्रह्म मानते हुए भी क्या हम उसे जान सकते हैं? नहीं, नहीं, आप इस एक बात को भली-भाँति समझ रक्खें। बार-बार आपके हृदय में यह प्रश्न उठेगा कि यदि यह ब्रह्म है, तो हम उसे कैसे जान सकते हैं? "विज्ञातारम् केन विजानीयात्।" "जानने वाले को किस प्रकार जाना जा सकता है?" आँखें सब कुछ देखती हैं; पर क्या वे अपने आपको भी देख सकती हैं? नहीं, यदि वे देख ली जायँ, तो उनका महत्त्व ही कम हो जाय। हे आर्य सन्तानों, तुम इस बात को याद रक्खो; क्योंकि इसमें एक बड़ा रहस्य छिपा हुआ है। तुम्हें आकर्षण करनेवाले सभी पाश्चात्य विचारों की नींव यही है कि इन्द्रियों का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। हमारे वेदों में कहा गया है कि इन्द्रियों का ज्ञान ज्ञेय वस्तु से भी तुच्छ होता है क्योंकि वह सदा परिमित होता है। जब तुम किसी वस्तु

को जानना चाहते हो, तो तुम्हारे मस्तिष्क के कारण वह तुरन्त परिमित होजाती है। हमारे ऋषियों का कहना है कि सीप और मोती के उदाहरण का ध्यान करो और देखो किस प्रकार ज्ञान परिमित है। एक वस्तु को तुम जान पाते हो; पर पूर्णतया नहीं। सभी ज्ञान के विषय में यह सत्य है। तब क्या अनन्त को तुम जान सकते हो? हमारी आत्माओं तथा समस्त विश्व में स्थित उस निर्गुण साक्षी को जो कि सभी ज्ञान का तत्व है, क्या तुम जान सकते हो? उस निःसीम को तुम किन सीमाओं से बाँध सकते हो? सभी वस्तुएँ, यह सारा ब्रह्माण्ड इस प्रकार की की गई निष्फल चेष्टाएँ हैं। यह अनन्त आत्मा ही मानों छोटे से-छोटे कीट से लेकर बड़े-से-बड़े देवता तक समस्त प्राणी-रूपी दर्पणों में अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहती है और फिर भी उन्हें कम पाती है; यहाँ तक कि मानव शरीर में उसे इस बात का ज्ञान होता है कि यह सब ससीम और सान्त हैं। सान्त में अनन्त का प्रदर्शन नहीं हो सकता। इसके बाद पीछे लौटना आरम्भ होता है। इसी का नाम वैराग्य है; पर इन्द्रियों को छोड़ फिर इंद्रियों के पास न चलो। सभी सुख और सभी धर्म का मूल-मंत्र यह वैराग्य ही है; क्योंकि याद रक्खो, इस सृष्टि का आरंभ ही तपस्या से हुआ है। जैसे ही तुम्हें अधिकाधिक वैराग्य होता जायगा, वैसेही सभी रूपों का लोप होता जायगा और अन्त में जो तुम हो वही रह जाओगे। इसी का नाम मोक्ष है।

इस विचार को हमें भली-भाँति समझ लेना चाहिये।

"विज्ञातारम् केन विजानीयात्।" जाननेवाले को किस प्रकार जाना जाय? क्योंकि यदि वह जान लिया जायगा, तो जानने वाला न रहेगा। दर्पण में तुम जिन आँखों को देखते हो वे, तुम्हारी वास्तविक आँखें नहीं; वरन् उनका प्रतिबिम्ब भर हैं। इसलिये यह सर्व-व्यापी और अनन्त आत्मा जो कि तुम हो, यदि केवल साक्षी है, तो क्या फ़ायदा हुआ? हमारी भाँति संसार में रहकर वह उसका सुख-भोग नहीं कर सकती। लोगों की समझ में नहीं आता कि साक्षी सुख का अनुभव कैसे कर सकता है। "हिन्दुओ! तुम इस मिथ्या सिद्धान्त को मानकर बिल्कुल निकम्मे हो गए हो।" अच्छा तो, पहिले सुख का सच्चा अनुभव तो साक्षी ही कर सकता है। यदि कहीं कुश्ती हो, तो किसे अधिक आनंद आवेगा, देखनेवालों को या लड़नेवालों को? जीवन में जितना ही अधिक तुम किसी वस्तु को साक्षी होकर देखोगे, उतना ही अधिक तुम उसका आनंद ले सकोगे। इसी का नाम आनन्द है, इसलिए अनन्त आनन्द तुम तभी पा सकोगे, जब साक्षी-रूप में इस सभी ब्रह्माण्ड को देखोगे, तभी तुम मुक्त होगे। साक्षी ही बिना किसी स्वर्ग-नरक के विचार के, बिना कीर्ति-अपकीर्ति की इच्छा से कार्य कर सकता है। साक्षी को ही वास्तविक आनन्द मिलता है, अन्य को नहीं।

"अद्वैतवाद के व्यावहारिक रूप को समझने के पहिले हमें 'माया' के सिद्धांत को समझ लेना चाहिए। अद्वैतवाद की इन बातों को समझने और समझाने के लिए महीने और वर्ष

चाहिए। अतः यदि यहाँ मैं उनका सूक्ष्म में ही वर्णन करूँ तो, आप लोग मुझे क्षमा करेंगे। माया के सिद्धांत को समझने में सदैव कठिनता पड़ी है। संक्षेप में मैं आपको बताता हूँ कि माया का वास्तव में कोई सिद्धांत नहीं है। माया देश, काल और निमित्त के तीन विचारों का समुच्चय है; देश, काल और निमित्त को भी आगे घटाकर केवल नामरूप रह जाता है। मान लीजिए कि सागर में एक लहर आई है। लहर सागर से केवल नाम और रूप में ही भिन्न है और यह नाम रूप लहर से भिन्न नहीं किए जा सकते। अब लहर चाहे पानी में मिल जावे; पर पानी उतना ही रहेगा। यद्यपि अब लहर का नाम रूप नहीं रहा। इसी प्रकार यह माया ही हममें, तुममें, पशुओं और पक्षियों में, मनुष्यों और देवताओं में अन्तर डालती है। इस माया के ही कारण आत्मा अनन्त नाम रूप वाले पदार्थों में विभक्त दिखाई देती है। यदि नाम और रूप का विचार तुम छोड़ दो, तो तुम जो सदा थे, वही रह जाओगे। यही माया है। फिर देखो, यह कोई कल्पित सिद्धान्त नहीं, वरन् एक दृढ़ सत्य है। यथार्थवादी कहता है कि यह संसार है। अज्ञानियों, क्षुद्र यथार्थवादियों, बच्चों आदि का इससे यह अर्थ होता है कि इस मेज का एक अपना अस्तित्व है जिसका संसार की किसी वस्तु से सम्बन्ध नहीं तथा यदि यह सारा संसार नष्ट हो जावे, तो फिर भी यह रहेगी। थोड़े से ही ज्ञान से पता चल जाता है कि यह भूल है। इस भौतिक संसार में प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्वद् के लिये सरी पर

निर्भर है। हमारे ज्ञान की तीन सीढ़ियाँ हैं। पहिली तो यह कि प्रत्येक वस्तु दूसरी से भिन्न है। वस्तुओं की पारस्परिक निर्भरता को समझना दूसरी सीढ़ी है। एक ही के यह सब नाना रूप हैं—इस सत्य का ज्ञान अन्तिम सीढ़ी है। अज्ञानी की ईश्वर-विषयक पहली कल्पना यह होती है कि वह कहीं संसार से अलग स्थित है अर्थात् ईश्वर की यह कल्पना बहुत ही मानुषिक है। वह वही करता है, जो मनुष्य करता है, केवल अधिक परिमाण में। हम देख ही चुके हैं कि ऐसा ईश्वर कितनी जल्दी न्याय और तर्क के विरुद्ध तथा परिमित शक्तिवाला सिद्ध किया जा सकता है। दूसरा विचार एक सर्व-व्यापी शक्ति का है। चण्डी में ऐसे ही ईश्वर की कल्पना की गई है; पर ध्यान दीजिये, यह ईश्वर ऐसा नहीं है, जो केवल शुभ-गुणों की ही खान हो। अच्छे गुणों के लिये ईश्वर और दुर्गुणों के लिये शैतान, तुम दो को नहीं मान सकते। मानो एक को ही और जो परिणाम हो उसका सामना करो।

"हे देवि, तू प्राणीमात्र में शांति और पवित्रता बनकर रहती है। हम तुझे नमस्कार करते हैं।" इसके साथ इसका जो परिणाम निकले, हमें उसका भी सामना करना होगा। "हे गार्गी, तू चिदानंद है। संसार में जहाँ कहीं भी सुख है, वह तेरा ही एक भाग है।" इसका उपयोग आप जो चाहें, करें। इसी प्रकाश में आप एक ग़रीब आदमी को सौ रुपये दे सकते हैं और दूसरा आपके जाली हस्ताक्षर कर सकता है; पर प्रकाश दोनों के

लिये एकही होगा। यह दूसरी सीढ़ी है। तीसरी सीढ़ी इस बात का ज्ञान होना है कि ईश्वर, न प्रकृति के बाहर है न भीतर; प्रत्युत ईश्वर, प्रकृति, आत्मा और ब्रह्माण्ड सब पर्यायवाची शब्द हैं। आप दो वस्तुओं को एक साथ नहीं देख सकते। आपकी सांसारिक भाषा ने आपको धोखे में डाल दिया है। आप समझते हैं कि हमारे एक शरीर है, एक आत्मा तथा दोनों मिलकर हम हैं। ऐसा कैसे हो सकता है ? एकबार अपने ही मन में विचार करके देखिये। यदि आप लोगों में कोई योगी है, तो वह समझता है कि मैं चैतन्य हूँ। उसके लिये शरीर नहीं है। यदि कोई साधारण पुरुष है, तो वह समझता है कि यह शरीर मैं हूँ; पर आत्मा और शरीर के विचारों के प्रचलित होने से आप समझते हैं कि हम यह दोनों ही हैं। नहीं, बारी बारी से। जब शरीर देखते हो, तब आत्मा की बात न करो। तुम केवल कार्य ही देखते हो, कारण नहीं देख सकते और जिस क्षण तुम कारण देख लोगे, उस क्षण कार्य रहेगा ही नहीं। यह संसार कहाँ है, उसे कौन उठा ले गया ?

"वह ब्रह्म, जोकि रूपहीन और अनन्त है तथा जो अनुपम और निर्गुण है, ऐसा ब्रह्म हे ज्ञानी, समाधिस्थ होने पर तेरे हृदय में प्रकाशित होगा।"

"जहाँ पर प्रकृति के सभी परिवर्तनों का अंत हो जाता है, विचारों से जो परे है, वेदों ने जिसका ज्ञान किया है, तथा जो हमारे जीवन का सार है, ऐसा ही ब्रह्म समाधि में तेरे हृदय में प्रकाशित होगा।"

"जन्म और मृत्यु से परे, वह अनन्त, उपमा-रहित, महा प्रलय के जल में डूबे हुए ब्रह्माण्ड के समान, जबकि ऊपर जल, नीचे जल चारों ओर जल ही जल हो तथा जिस अनन्त जल-राशि में एक छोटी सी भी लहर व हिलोर न उठती हो, जो अत्यन्त शांत और गम्भीर हो, जहाँ पर सारी इच्छाएँ और आशाएँ मिट गई हों और ज्ञानियों-अज्ञानियों के वाद-विवादों का जहाँ अंत हो गया हो, ऐसा ब्रह्म समाधि में तेरे हृदय में प्रकाशित होगा।" मनुष्य जब इस दशा को प्राप्त होता है तब संसार का लोप हो जाता है।

हम यह देख चुके हैं कि इस सत्य, इस ब्रह्म को जानना असंभव है, अज्ञानवादियों ( ऐग्नौस्टिक्स ) की भाँति नहीं, जो कहते हैं ईश्वर जाना ही नहीं जा सकता, वरन् इसलिए कि उसको जानना अधर्म होगा ; क्योंकि हम स्वयं ही ब्रह्म हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि यह मेज ब्रह्म नहीं है और फिर भी है। नाम और रूप को हटा दो और जो कुछ यथार्थ में रहेगा वही ब्रह्म है। प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता वही है।

"तू स्त्री में है, तू पुरुष में है, जवानी के घमण्ड में चलते हुए युवक में और लाठी के सहारे खड़े हुए वृद्ध पुरुष में भी तू है। तू ही सब में है और मैं तू हूँ।" यही अद्वैतवाद है। दो शब्द और। हम देखते हैं कि संसार का रहस्य यहीं समझाया गया है। यहाँ पर खड़े होकर हम सभी तर्क और विज्ञान आदि का सामना कर सकते हैं। यहाँ पर कोरा विश्वास का आश्रय नहीं लेना पड़ता, वरन् अद्वैतवाद तर्क और न्याय की दृढ़ नींव पर स्थिर है। साथ ही

वेदांती अपने से पूर्व वादों को गाली नहीं देता, वरन् उन्हें प्रेम की दृष्टि से देखता है, क्योंकि वह जानता है कि वे भी सत्य हैं, केवल वे समझे ग़लत गए थे और लिखे ग़लत गये थे। वे सब एक ही थे, माया के आवरण के कारण उनका रूप चाहे विकृत ही क्यों न होगया हो, फिर भी वे सत्य ही थे। जिस ईश्वर को अज्ञानी ने प्रकृति के बाहर देखा था, जिसे किञ्चिद् ज्ञानी ने विश्व में व्याप्त देखा था तथा पूर्ण ज्ञानी ने जिसे अपनी आत्मा करके जाना था—वे सब ईश्वर और यह ब्रह्माण्ड एक ही थे। एक ही वस्तु अनेक स्थानों से देखी गई थी। माया के कारण उसके अनेक रूप दिखाई दिये थे। सारा अन्तर और भेद माया के ही कारण था। यही नहीं, सत्य ज्ञान को पाने के लिये यह भिन्न-भिन्न सीढ़ियाँ हैं। विज्ञान और साधारण ज्ञान में क्या अन्तर है? सड़क पर जाओ और किसी गँवार से वहाँ पर घटी हुई किसी विचित्र घटना का रहस्य पूछो। सोलह में पन्द्रह आने तो वह यही कहेगा कि यह भूतों का काम है। अज्ञानी कारण को सदैव कार्य के बाहर ही ढूँढ़ता है और इसीलिये वह सदैव घटना से, जिनका कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसे भूत-प्रेतों को ढूँढ़ निकालता है। यदि कहीं पत्थर गिरा है, तो वह कहेगा कि यह शैतान या भूत का काम है, पर वैज्ञानिक कहेगा कि वह प्रकृति के नियम या पृथ्वी की आकर्षणशक्ति के कारण गिरा है।

विज्ञान और धर्म का प्रतिदिन का झगड़ा क्या है? धर्मों में संसार के कारण संसार के बाहर बताये गये हैं। एक

देवता सूर्य में है, एक चन्द्रमा में। प्रत्येक परिवर्तन किसी बाहरी शक्ति के कारण होता है। कारण कार्य में ही नहीं ढूँढ़ा जाता। विज्ञान का कहना है कि प्रत्येक वस्तु का कारण उसी में रहता है। जैसे-जैसे विज्ञान ने उन्नती की है, उसने संसार के रहस्यों की कुञ्जी भूत-प्रेतों के हाथ से छीन ली है और इसलिये अद्वैतवाद अत्यन्त वैज्ञानिक धर्म है। यह सृष्टि किसी बाहरी शक्ति, किसी बाहरी ईश्वर की बनाई हुई नहीं है। यह स्वयं जन्म लेनेवाली, स्थित रहनेवाली तथा स्वयं नाश को प्राप्त होनेवाली है। यह एक अनन्त जीवन है, ब्रह्म है। "तत्त्वमसि।" "हे श्वेतकेतु, वह तू ही है।" इस प्रकार तुम देखते हो कि अद्वैतवाद ही एक वैज्ञानिक धर्म हो सकता है। अर्द्ध-शिक्षित भारतवर्ष में प्रति-दिन मैं जो विज्ञान, न्याय और तर्क आदि के विषय में लम्बी चौड़ी बातें सुनाता हूँ, उनके होते हुए भी मैं आशा करता हूँ कि तुम सब अद्वैतवादी होने का साहस कर सकोगे और बुद्ध के शब्दों में, "संसार के हित के लिये, संसार के सुख के लिये" उसका प्रचार करोगे। यदि ऐसा करने का साहस तुम में नहीं है, तो मैं तुम्हें कायर कहकर पुकारूँगा। यदि तुम में कायरता है, भय है, तो दूसरों को भी उतनी ही स्वतंत्रता दो। किसी ग़रीब उपासक की मूर्ति जाकर न तोड़ो। उसे शैतान न कहो। जिसका तुम्हारे विचारों से सामञ्जस्य नहीं, उसे जाकर उपदेश न देने लगो। पहिले यह जान लो कि तुम स्वयं कायर हो। यदि तुम्हें समाज से, अपने अन्ध विश्वासों से

भय है, तो सोचो कि अन्य अज्ञानियों को उनसे कितना अधिक भय होगा। अद्वैतवादी कहता है कि दूसरों पर भी दया दिखाओ। क्या ही अच्छा होता कि कल ही सारा संसार अद्वैतवादी हो जाता, अद्वैतवाद को सिद्धान्तरूप से ही न मानता वरन् उसे कार्य-रूप में भी लाता; पर यदि वैसा नहीं हो सकता, तो सभी धर्मों से हाथ मिलाकर, धीरे-धीरे जैसे वे जा सकें, उन्हें सत्य की ओर ले चलो। याद रक्खो, भारतवर्ष में प्रत्येक धार्मिक प्रगति उन्नति की ही ओर हुई है, बुरे से अच्छे की ओर नहीं, वरन् अच्छे से और भी अच्छे की ओर।

अद्वैतवाद की व्यावहारिकता के विषय में दो शब्द और कहने हैं। हमारे बच्चे आजकल न जाने किससे सीखकर बड़ी जल्दी-जल्दी कहा करते हैं कि अद्वैतवाद लोगों को पापी बना देगा; क्योंकि यदि हम सब एक हैं, और ईश्वर है वो हमें कोई धर्माधर्म का विचार करने की आवश्यकता नहीं। पहिली बात, तो यह है कि यह तर्क पशुओं का है, जो कि बिना कोड़े के मान नहीं सकते। यदि तुम ऐसे ही पशु हो, तो कोड़े से ही माननेवाले मनुष्य बनने से तुम्हारे लिए मर जाना ही अच्छा है। यदि कोड़ा खींच लिया जावे, तो तुम सब राक्षस हो जाओगे! यदि ऐसा ही है, तो तुम सब लोगों को मार डालना चाहिये, अन्य उपाय नहीं, क्योंकि बिना कोड़े और डंडे के तुम लोग रहोगे नहीं और इसलिये तुम लोगों को कभी मोक्ष-लाभ न होगा। दूसरी बात यह है कि अद्वैतवाद

ही धर्म के रहस्य को बताता है। प्रत्येक धर्म कहता है कि धर्म का सार यही है कि दूसरों की भलाई करो। और क्यों? स्वार्थ को छोड़ दो। क्यों? किसी देवता ने ऐसा कहा है! कहने दो, मैं उसे नहीं मानता। हमारी धर्म-पुस्तक में लिखा है, लिखा रहने दो। मैं उसे भी नहीं मानता। और संसार का धर्म क्या है, सब लोग अपना-अपना स्वार्थ-साधन करो, ग़रीब को अपनी मौत आप मरने दो। कम से कम संसार के अधिकांश जनों का यही धर्म है। मैं क्यों धर्म करूँ? इसका कारण तुम तब तक नहीं बता सकते, जब तक कि तुम्हें सत्य-ज्ञान न होगा।

"वह जो कि अपने को प्रत्येक प्राणी में और प्रत्येक प्राणी को अपने में देखता है और इस प्रकार सब प्राणियों में एक ही ईश्वर को स्थित जानता है, वही ज्ञानी आत्मा की आत्मा से हत्या नहीं कर सकता।" अद्वैतवाद तुम्हें बताता है कि दूसरे की हानि कर तुम अपनी ही हानि करते हो; क्योंकि वह तुमसे भिन्न नहीं है। तुम जानो, चाहे न जानो; पर सभी हाथों से तुम काम करते हो, सभी पैरों से तुम चलते हो। राज-मन्दिर में विलास करनेवाले सम्राट् तुम्हीं हो और सड़क पर पड़े हुए भूख से त्राहि-त्राहि करनेवाले भिखारी भी तुम्हीं हो। तुम ज्ञानी में हो और अज्ञानी में भी हो, तुम सबल में भी हो और निर्बल में भी हो। ऐसा जानकर हृदय में सहानुभूति को जन्म दो। इसीलिये मुझे दूसरों को दुख न पहुँचाना चाहिये। और इसीलिये ही मुझे इसकी चिन्ता नहीं कि मुझे खाने को मिलता है कि नहीं;

क्योंकि लाखों मुख तो खाते होंगे और वे सब मेरे ही तो हैं। इसलिये मेरा चाहे जो हो, मुझे चिन्ता नहीं ; क्योंकि यह सारा संसार मेरा है। उसके सारे आनन्द का उपभोग मैं कर रहा हूँ। मुझे, इस ब्रह्माण्ड में कौन मार सकता है ? यही अद्वैतवाद का व्यावहारिक धर्म है। दूसरे धर्म भी यही बात सिखाते हैं ; पर उसका कारण नहीं बता सकते। अच्छा इतना तो कारणों के लिये हुआ।

इस सबसे लाभ क्या हुआ ? पहिले इसको सुनना चाहिये। "श्रोतव्यः मन्तव्या निदिध्यासितव्यः।" संसार के ऊपर जो तुमने माया का आवरण डाल रक्खा है, उसे दूर कर दो। मनुष्य-जाति में निर्बल शब्दों और विचारों का प्रचार न करो। यह ज्ञान रक्खो कि सभी पापों और बुराइयों की जड़ निर्बलता ही है। निर्बलता के ही कारण मनुष्य बुरे और जघन्य काम करता है, निर्बलता के ही कारण वह वे कार्य करता है, जो उसे करने न चाहियें, निर्बलता के ही कारण वह अपनी वास्तविकता को भूल और का और बन जाता है। मनुष्यों को जानना चाहिये कि वे क्या हैं, जो कुछ वे हैं, उसका उन्हें अहर्निशि ध्यान करना चाहिये। सोऽहम्। इस शक्ति के विचार को उन्हें माँ के दूध के साथ पी जाना चाहिये। मैं वही हूँ, मैं वही हूँ। मनुष्य इसीका सतत् चिन्तन करें और ऐसा सोचनेवाले हृदय वे कार्य सम्पन्न करेंगे, जिन्हें देखकर विश्व चकित रह जावेगा। कोई-कोई कहते हैं कि अद्वैतवाद कार्य-रूप में नहीं लाया जा सकता

अर्थात् भौतिक उन्नति के लिये उसका कोई महत्व नहीं। किसी हद तक यह ठीक हो सकता है क्योंकि वेदों का कहना है कि—

"ओमित्येकाक्षरम् ब्रह्म ओमित्येकाक्षरम् परम।"

"ओम् ही महान् रहस्य है, ओम् ही विशाल सम्पत्ति है; जो ओम् के रहस्य को जानता है, वह मनवांछित फल पाता है।" इसीलिए, पहले इस ओम् के रहस्य को तो जानो कि तुम ही ओम् हो। 'तत्त्वमसि' के तत्त्व को तो समझो। ऐसा करने पर ही जो तुम चाहोगे, तुम्हें मिलेगा। यदि तुम धन-वैभव चाहते हो, तो विश्वास करो कि वह तुम्हें मिलेगा। मैं चाहे एक छोटा सा बुल्ला होऊँ और तुम चाहे एक तुङ्ग-तरङ्ग हो; पर याद रक्खो कि हमारी-तुम्हारी दोनों की ही शक्ति का आगार एक वही अनन्त-सागर परमात्मा है। उसी में से मैं एक छोटा सा बुल्ला और तुम एक तुङ्ग-तरङ्ग दोनों ही जितनी शक्ति चाहें ले सकते हैं। इसलिए अपने आप में विश्वास करना सीखो। अद्वैत-वाद का यही रहस्य है कि पहले अपने आप में विश्वास करना सीखो फिर किसी अन्य वस्तु में। संसार के इतिहास में तुम देखोगे कि उन जातियों ने ही उन्नति की है, जिन्होंने अपने आप में विश्वास किया है। प्रत्येक जाति के इतिहास में तुम देखोगे कि वे ही पुरुष महान् हुए हैं, जिन्होंने अपने आप में विश्वास किया है। यहीं भारतवर्ष में एक साधारण स्थिति का अँग्रेज क्लर्क आया था, जिसने धनाभाव से दो बार अपने सिर में गोली मारकर आत्म-हत्या करने की चेष्टा की थी; पर जब दोनों ही बार वह अस-

फल रहा, तब उसे विश्वास हुआ कि मैं संसार में महान् कार्य सम्पन्न करने के लिए ही उत्पन्न हुआ हूँ। यही व्यक्ति आगे चलकर भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डालनेवाला प्रख्यात लॉर्ड क्लाइव हुआ। यदि उसने पादरियों का विश्वास कर यही कहा होता—"हे ईश्वर, मैं बहुत कमज़ोर हूँ, मैं बड़ा पापी हूँ।" तो वह कहाँ होता? एक पागलखाने में। इन निर्बल विचारों को सिखा-सिखाकर तुम्हारे धर्म-गुरुओं ने तुम्हें पागल बना दिया है। मैंने संसार भर में घूम कर देखा है कि इन पाप-शिक्षाओं ने मनुष्य-जाति को नष्ट कर डाला है। हमारे बच्चे ऐसे ही विचारों के साथ बढ़कर मनुष्य बनते हैं, आश्चर्य ही क्या कि वे आधे सिड़ी होते हैं।

द्वैअतवाद का यह व्यावहारिक रूप है। अपने आप में विश्वास करो और यदि तुम धन-सम्पत्ति चाहते हो, तो उसे पाने के लिए प्रयत्न करो, वह तुम्हें अवश्य मिलेगी। यदि तुम प्रतिभा-शाली और मनस्वी होना चाहते हो, तो उसके लिए भी चेष्टा करो, तुम वैसे ही होगे। यदि तुम स्वतंत्रता चाहते हो, तो प्रयत्न करो, तुम देवता बनोगे। 'निर्वाण' चिदानन्द का आश्रय लो।" भूल यहाँ पर होती थी। अद्वैतवाद का आत्मिकक्षेत्र में ही प्रयोग किया गया था, पर अब समय आ गया है, जबकि तुम्हें उसे भौतिक क्षेत्र में भी लाना है। अब वह रहस्य न रहेगा, ऋषियों के साथ वनों में, कन्दराओं में व हिमालय पर्वत में वह छिपा न रहेगा। संसार का प्रत्येक प्राणी उसे कार्यरूप में लावेगा। राजा के मन्दिर में, सन्यासी की गुफा में, ग़रीब की झोपड़ी में—

प्रत्येक जगह उसका प्रयोग किया जा सकता है। एक भिक्षुक भी उसका प्रयोग कर सकता है, क्योंकि हमारी गीता में लिखा है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

इसलिए चाहे तुम स्त्री हो, चाहे शूद्र हो, चाहे अन्य कुछ, तुम तनिक भी भय न करो, क्योंकि श्रीकृष्णजी ने कहा है कि यह धर्म इतना विशाल है कि थोड़ा सा करने पर भी बहुत सा फल देता है। इसलिए हे आर्य सन्तानों, आलस्य को त्याग दो। जागो और उठ खड़े हो और जब तक लक्ष्य-सिद्धि न हो आगे बढ़ते ही चलो। अद्वैतवाद को कार्य-रूप में लाने का यही समय है। आओ, उसे आकाश से पृथ्वी पर उतारें, यही हमारा वर्तमान कर्तव्य है। देखो, तुम्हारे जन्म-दाता महर्षि तुमसे पुकार कर कह रहे हैं कि "बच्चो अब रुक जाओ। अपनी शिक्षा और उपदेशों को नीचे उतरने दो और समाज की नसों में भर जाने दो। उन्हें प्रत्येक प्राणी के जीवन का भाग तथा समाज का सार्वजनिक धन बनने दो। मनुष्यों की धमनियों में रक्त के साथ उन्हें बहने दो।" सुनकर तुम्हें आश्चर्य होगा; पर पश्चिम के लोग वेदान्त को तुमसे अधिक कार्य-रूप में लाये हैं। न्यूयार्क के समुद्र-तट पर खड़ा होकर मैं देखता था कि किस प्रकार विविध देशों से पद-दलित और आशाहीन परदेशी वहाँ पर आते हैं। उनके पहनने के कपड़े फटे हुए हैं, एक छोटी सी मैली गठरी ही उनकी सारी सम्पत्ति है, किसी मनुष्य की आँखों से आँखें मिला कर वे देख नहीं सकते। यदि वे किसी पुलिसवाले

को देखते हैं, तो भय से हटकर रास्ते के दूसरी ओर हो जाते हैं और छः महीने में ही वे अच्छी पोशाक पहिने, सबकी दृष्टि से दृष्टि मिलाये, अकड़ते हुए चलते दिखाई देते। और इस अद्भुत कायां-पलट का कारण क्या था? मान लो यह पुरुष आर्मीनिया या अन्यत्र कहीं से आया है, जहाँ पर उसकी तनिक भी चिन्ता न कर सब उसे ठोकरें मारते थे, जहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति उससे यही कहता कि तू ग़ुलाम पैदा हुआ है और आ-जीवन ग़ुलाम ही रहेगा, जहाँ वह यदि तनिक भी हिलने की चेष्टा करता, तो उस पर सहस्रों पदाघात होते। वहाँ प्रत्येक वस्तु उससे यही कहती—"ग़ुलाम, तू ग़ुलाम है, वहीं रह। आशाहीन तू पैदा हुआ था, आशाहीन ही रहेगा।" वायु-मण्डल भी गूँज-गूँज कर प्रतिध्वनि करता—"तेरे लिए कोई आशा नहीं, तू ग़ुलाम है।" वहाँ पर सबल ने उसे पीस डाला था और जब वह न्यूयॉर्क की विस्तृत सड़कों में आया, तो उसने अच्छी पोशाक पहिने हुए एक सभ्य पुरुष को अपने से हाथ मिलाते पाया। अच्छे और बुरे कपड़ों ने कोई अन्तर न डाला। आगे चलकर उसे एक भोजनालय मिला जहाँ पर एक मेज पर बैठे हुए कई सभ्य पुरुष भोजन कर रहे थे; उसी मेज पर बैठकर भोजन करने के लिए उससे भी कहा गया। वह चारों ओर आया गया और उसे एक नवीन जीवन का अनुभव हुआ। यहाँ कम-से-कम वह भी मनुष्यों में एक मनुष्य था। शायद वह वाशिंगटन भी गया और वहाँ संयुक्त-राज्य के सभापति से हाथ

मिलाया। यहाँ पर उसने फटे कपड़े पहिने, सुदूरस्थ गाँवों से किसानों को भी आते हुए देखा, जो कि सभापति से हाथ मिलाते थे। अब माया का पर्दा हट गया। ग़ुलामी और निर्बलता के कारण वह भूल गया था कि मैं ब्रह्म हूँ। एक बार फिर जागकर उसने देखा कि संसार के अन्य मनुष्यों की भाँति वह भी एक मनुष्य है। हमारे ही इस देश में, वेदान्त के इस पुण्य जन्म-स्थान में ही, शताब्दियों से हमारा जन-समुदाय इस अधोगति को पहुँचा हुआ है। उनके साथ बैठना भी पाप है! 'आशा-हीन तुम पैदा हुए थे, आशाहीन ही रहो,—परिणाम यह होता है कि वे दिन-पर-दिन गिरते ही जाते हैं, गिरते ही जाते हैं, यहाँ तक कि मनुष्य की जो पतित-से-पतित अवस्था हो सकती है; वे आज उस तक पहुँच गए हैं। संसार में ऐसा कौनसा देश है, जहाँ मनुष्य को पशुओं के साथ सोना पड़ता है? और इसके लिए अज्ञानियों की भाँति दूसरों को दोष न दो। जहाँ कार्य है, वहीं कारण भी है। दोषी हमीं हैं। दृढ़तापूर्वक खड़े होकर दोषों को अपने ही सिर पर लो। दूसरों के ऊपर कीचड़ न फेंकते फिरो। उन तमाम दोषों के, जिनके कारण तुम दुख पाते हो, एक मात्र उत्तरदायी तुम्हीं हो।

लाहौर के नवयुवको, इस बात को भली-भाँति समझ लो। सारे पैतृक और जातीय पापों का भार तुम्हारे ही कन्धों पर है। तुम चाहे जितनी सभा-सोसाइटियाँ और कान्फ्रेंसें कर डालो, तुम्हारा तब तक भला न होगा जब तक कि तुम्हारे पास वह हृदय, वह प्रेम, वह सहानुभूति न होगी, जो कि दूसरे के दुख-

सुख को अपना समझती है। जब तक भारतवर्ष में एक बार फिर बुद्ध का हृदय नहीं आता, जब तक योगेश्वर कृष्ण के शब्द कार्य-रूप में नहीं लाये जाते, तब तक हमारे लिये कोई आशा नहीं। तुम लोग यूरोप-वासियों की नक़ल करते जाओ; पर सुनो, मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ, जो कि मेरी आँखों देखी हुई एक सची घटना है। यहाँ से कुछ यूरेशियन कुछ वर्मा-निवासियों को लण्डन ले गये और वहाँ उन्हें जनता को दिखाकर पैसे वसूल किये। इसके बाद उन्होंने उन्हें यूरोप में ले जाकर मरने-जीने के के लिये छोड़ दिया। वे बिचारे कोई यूरोप की भाषा भी न जानते थे; पर आस्ट्रिया के अंग्रेज राज-दूत ने उन्हें लण्डन भिजवा दिया। लण्डन में भी वे किसी को न जानने के कारण असहाय थे। वहाँ पर एक अंग्रेज महिला को उनका पता लगा। वह उन्हें अपने घर ले गई तथा पहनने के लिये अपने कपड़े और सोने के लिये अपने बिस्तर दिये। फिर उसने उनकी दशा की खबर अख़बारों में भेज दी। दूसरे ही दिन सारी जाति मानों सोते से जाग पड़ी। बहुत सा पैसा इकट्ठा हो गया और वे लोग वर्मा भेज दिये गये। इस प्रकार की सहानुभूति पर ही उनकी सामाजिक व राजनैतिक संस्थाएँ और व्यवस्थाएँ स्थित हैं। उनमें कम से कम अपने देशवासियों के लिये अटल प्रेम है। उन्हें चाहे दुनिया से प्रेम न हो, सब लोग चाहे उनके दुश्मन ही हों, पर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि स्वजाति के लिये उनमें प्रगाढ़ प्रेम तथा द्वार पर आये हुए परदेशी के लिये

दया और न्याय है। यह मेरी कृतघ्नता होगी, यदि मैं तुम्हें न बताऊँगा कि किस प्रकार पश्चिम के प्रत्येक देश में मेरा बड़े ही आदर व सम्मान के साथ स्वागत किया गया था। यहाँ वह हृदय कहाँ है, जिस पर तुम राष्ट्र का प्रासाद खड़ा करोगे? हम लोग एक छोटी सी कम्पनी बनाकर कार्य शुरू नहीं करते कि झट एक दूसरे को धोखा देने लग जाते हैं और शीघ्र सारा मामला ठप हो जाता है। तुम कहते हो कि हम उनका अनुकरण करेंगे, उन्हीं की भाँति अपना भी राष्ट्र बनावेंगे; पर उनकी सी यहाँ नींवें कहाँ हैं? यहाँ पर तो बालू ही बालू है और इसलिए जो इमारत खड़ी भी करते हो, वह तुरन्त ही धड़धड़ाकर बैठ जाती है। इसलिए हे लाहौर के नवयुवको, एक बार फिर उसी अद्वैत के अद्वितीय झण्डे को उठाओ। जब तक तुम सब में एक ही परमात्मा को समान रूप से प्रकट होते न देखोगे, तब तक तुम्हारे हृदय में सच्चा प्रेम उत्पन्न न होगा। उस प्रेम के झण्डे को फहरा दो।" जागो, और उठ खड़े हो और जब तक लक्ष्य सिद्धि न हो, आगे बढ़ते ही चलो।" जागो, जागो, एक बार फिर जागो; क्योंकि बिना त्याग के कुछ नहीं हो सकता। यदि तुम दूसरों की सहायता करना चाहते हो, तो अपनी चिन्ता करना छोड़ दो। जैसा कि ईसाई कहते हैं, तुम एक साथ ही ईश्वर और शैतान दोनों की उपासना नहीं कर सकते। तुम्हारे जन्मदाता तपस्वी पुरखों ने बड़े-बड़े काम करने के लिए संसार त्याग दिया था। आज भी ऐसे पुरुष दुनियाँ में हैं, जिन्होंने

मुक्ति पाने के लिए संसार को छोड़ दिया है ; पर तुम सब मोह त्याग दो, अपनी मुक्ति की भी चिन्ता छोड़ दो और आओ, दूसरों की सहायता करो। तुम लोग सदा लम्बी-चौड़ी हाँका करते हो, यह देखो वेदान्त का कार्य-क्रम। अपने इस छोटे से जीवन का उत्सर्ग कर दो। हमारे तुम्हारे से सहस्रों के भी भूख से प्राण गँवा देने से क्या होगा, यदि हमारी जाति जीवित रहेगी ! हमारी जाति डूबी जा रही है। उन असंख्य भारतवासियों की आहें, जिन्हें तुमने निर्मल जल वाली नदी के होते हुए भी पीने के लिए पोखरे का गन्दा जल दिया है, जिन्हें भोजन के ढेर लगे रहने पर भी तुमने भूखों मारा है, जिन्हें तुमने अद्वैत का उपदेश दिया है ; पर जिनसे तुमने हृदय से घृणा की है, जिनके लिए तुमने लोकाचार के अनोखे सिद्धान्तों का आविष्कार किया है, जिनसे तुमने केवल सिद्धान्तरूप से कहा है कि हम सब में एक ही ईश्वर है ; पर जिस सिद्धान्त को तुमने कभी कार्य-रूप में लाने की चेष्टा नहीं की—भारतवर्ष के ऐसे असंख्य पतित निवासियों का अभिशाप आज तुम्हारे सिर पर है। तुमने सदा यही कहा है—"मित्रो, यह सब विचार अपने हृदय में ही रक्खो, उन्हें कार्य-रूप में कदापि न लाओ।" अरे इस काले धब्बे को मिटा दो। "जागो, और उठ खड़े हो।" यदि यह छोटा सा जीवन जाता है, तो जाने दो। संसार के प्रत्येक प्राणी को मरना है, पापी को भी, पुण्यात्मा को भी, अमीर को भी, ग़रीब को भी। जागो, उठो; अपने हृदय में सत्य प्रेम को जन्म दो। हम लोगों में वेदव

धोखेबाज़ी आ गई है। हमें वह चरित्र-बल और दृढ़ता चाहिए, जो मनुष्य को मृत्यु के समान जकड़ कर पकड़ ले।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्,
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

"नीतिज्ञ चाहे निन्दा करें, चाहे स्तुति करें, लक्ष्मी आवे, चाहे जाय, मौत आज आती हो, तो आज आजावे और सौ बरस बाद आती हो, तो तब आवे, धैर्यशाली पुरुष किसी को भी चिन्ता न कर न्याय-पथ से एक पग भी विचलित नहीं होते।" जागो, उठ खड़े हो। समय बीता जा रहा है। इस प्रकार हमारी सारी शक्ति बातें करने में ही खर्च हो जावेगी। जब मुसलमान भारतवर्ष में पहिले-पहल आए थे तब यहाँ साठ करोड़ हिन्दू थे, आज वहाँ वे बीस करोड़ से भी कम हैं। दिन पर दिन वे घटते ही जावेंगे, यहाँ तक कि उनका नाम-निशान भी न रहेगा। उनका नाम-निशान रहे अथवा न रहे; पर उनके साथ वेदान्त के उन अनुपम विचारों का भी लोप हो जायगा, जिनके कि हिन्दू अपने सारे दोषों और अन्धविश्वासों के होते हुए भी एक मात्र प्रतिनिधि हैं। उनके साथ इस आत्म-ज्ञान के अमूल्य-मणि अद्वैत का भी लोप हो जायगा। इसलिए मैं कहता हूँ, जागो और उठ खड़े हो। संसार के आत्म-ज्ञान की रक्षा के लिए अपने हाथ फैला दो। और सबसे पहले अपनी

जातीयता की रक्षा करो। हमें आत्म-ज्ञान की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी अद्वैत को कार्य-रूप में लाने की। पहले रोटी, पीछे धर्म। जब तुम्हारे देशवासी भूखों मर रहे थे, तब तुम उन्हें धर्म खिला रहे थे। भूख की अग्नि को धर्म कभी शान्त नहीं कर सकता। हमें पतित करनेवाली दो वस्तुएँ हैं—एक हमारी निर्बलता, दूसरी हमारी ईर्ष्या व घृणा, हमारे सूखे हृदय। तुम लाख सिद्धान्त मानों, लाख धर्म चलाओ; पर जब तक तुम्हारे हृदय में सच्चा प्रेम, सच्ची सहानुभूति नहीं है, तब तक इन सबसे कुछ न होगा। अपने निर्धन देश-भाइयों से उसी भाँति प्रेम करना सीखो, जिस प्रकार तुम्हारे वेद तुम्हें सिखाते हैं। इस बात का हृदय में अनुभव करो कि ग़रीब और अमीर, पापी और पुण्यात्मा, सब एक ही अनन्त ब्रह्म के विभिन्न भाग हैं।

इसी भाँति, सज्जनो, मैं आपके सम्मुख संक्षेप में अद्वैतवाद के प्रमुख सिद्धान्तों को रख सका हूँ और मैंने आपको यह भी बताया है कि किस प्रकार आज उन्हें इस देश में ही नहीं वरन् सारे संसार में कार्य-रूप में लाने का समय आ गया है। आधुनिक विज्ञान के वज्र-प्रहार आज संसार के सभी द्वैत-वादी धर्मों की मिट्टी की बनी हुई नींवों को चूर्ण कर रहे हैं। भारतवर्ष में ही नहीं, यहाँ से भी अधिक यूरोप और अमेरिका में द्वैतवादी, विज्ञान से अपनी रक्षा करने के लिए, अपनी धर्म-पुस्तकों के पाठों को जहाँ तक खींचा जाता है, इधर-उधर खींचते हैं, पर धर्म-पुस्तकों के पाठ कुछ इण्डिया-रबर तो हैं नहीं, जो खिंचते ही

चले जायँगे। हमारे अद्वैतवाद के विचारों को वहाँ लेजाना होगा और अभी भी अद्वैतवाद का विचार वहाँ पहुँच चुका है। उसे खूब बढ़ाना होगा, जिससे वह उनकी सभ्यता की रक्षा कर सके। पश्चिम में पुरानी व्यवस्थाओं का अन्त होरहा है और सोने और शैतान की उपासना का जन्म हो रहा है। उनके इस सोने और व्यापारिक होड़ा-होड़ी के धर्म से उनके प्राचीन अन्ध-विश्वासी धर्म कहीं अच्छे थे। कितनी भी बलशाली जाति क्यों न हो, ऐसी नीवों पर वह सदा स्थिर नहीं रह सकती। संसार का इतिहास हमें बताता है कि जिन जातियों की ऐसी नीवें थीं, वे कभी की नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी हैं। सबसे पहिले हमें ऐसी लहर को भारत में आने से रोकना चाहिये। इसलिये अद्वैतवाद का खूब प्रचार करो, जिससे धर्म विज्ञान के इस धावे को सह सके। यही नहीं, तुम्हें दूसरों की भी सहायता करनी होगी। तुम्हारे विचार यूरोप और अमेरिका की रक्षा करेंगे; पर एक बार मैं तुम्हारे सम्मुख कार्य-क्रम को तुम्हें फिर याद दिलाता हूँ कि सबसे पहिले तुम्हें अपने देश के असंख्य पतित भाइयों का उद्धार करना होगा। श्रीकृष्ण के शब्दों का स्मरण करते हुए उन्हें हाथ पकड़कर उठाओ।

"इस जीवन में ही उन्होंने स्वर्ग को पा लिया है, जिनके हृदय में ब्रह्म की एकता का दृढ़ विश्वास है, क्योंकि ईश्वर पवित्र है और सबके लिये समान है। इसलिये ऐसों ही को कहा जाता है कि वे परमात्मा में निवास करते हैं।"

---

# हमारी प्रकाशित कुछ पुस्तकें

# स्थायी ग्राहकों के नियम.

( १ ) स्थायी ग्राहक बनने की प्रवेश-फीस ॥) है।

( २ ) पुस्तकें प्रकाशित होने के २० दिन पूर्व मूल्य आदि का सूचना-पत्र ग्राहकों की सेवा में भेजा जाता है, उसके उत्तर में किसी प्रकार की सूचना न मिलने पर वी० पी० लेना स्वीकार समझ २५) सैकड़ा कमीशन काटकर पुस्तकें वी० पी० द्वारा भेज दी जाती हैं।

( ३ ) हमारे यहाँ से प्रकाशित सभी पुस्तकों पर स्थायी ग्राहकों को २५) सैकड़ा कमीशन मिलेगा।

( ४ ) स्थायी ग्राहक जिस पुस्तक को चाहे लें, जिस पुस्तक को चाहे न लें। यह उनकी इच्छा पर निर्भर है; पर सूचना-पत्र का उत्तर अवश्य देना चाहिये। वी० पी० जाने पर उसे वापिस नहीं करना चाहिये। इससे हमारी हानि होती है। ग्राहकों को हमारी हानि अपनी ही हानि समझना चाहिये।

( ५ ) स्थायी ग्राहकों को अन्य सभी प्रकाशकों की पुस्तकों पर ~) फी रुपया कमीशन दिया जाता है। इतना अधिक कमीशन देने का नियम कहीं भी नहीं है।

( ६ ) स्थायी ग्राहक आर्डर देते समय अपना ग्राहक नंबर अवश्य लिख दिया करें, जिसमें उनके आर्डर पर कमीशन काटने में भूल न हो।

( ७ ) स्थायी ग्राहक की भूल से वी० पी० लौट आने पर खर्च उनको ही देना पड़ता है, और दो बार वी० पी० लौटने पर स्थायी ग्राहकों की सूची से उनका नाम काट दिया जाता है।

नोट—ग्राहकों को पता स्पष्ट और ठीक-ठीक लिखना चाहिये। जब कभी वे स्थान-परिवर्त्तन करें, उनकी सूचना हमें तुरन्त दें। जिसमें हम उनका पता अपने यहाँ ठीक कर सकें।